मध्यकालीन
राजस्थान का इतिहास

(1200—1761 ई)

•

1 राजस्थान के इतिहास के अध्ययन काल के ऐतिहासिक स्रोत

(Historical Sources for the Period of Study of the History of Rajasthan)

ऐतिहासिक स्रोतों का किसी देश या काल के सत्य एवं प्रामाणिक इतिहास लेखन में सर्वाधिक महत्त्व रहता है किन्तु इन स्रोतों को उपलब्ध करने तथा यत्र तत्र बिखरे हुए स्रोतों को संकलित कर उनके आधार पर ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। भारत के प्राचीन इतिहास के ऐतिहासिक स्रोतों के उपलब्ध न होने का कारण प्रायः इतिहासकारों ने भारतीयों में इतिहास चेतना का अभाव माना है। डा. वी. एस. भार्गव का मत है कि—'प्राचीन काल के इतिहास की जानकारी हमें शिलालेखों, सिक्कों, पुरातत्व सामग्री, प्राचीन भवनों व मंदिरों के अवशेष, प्राचीन उजड़े वीरान गाँवों, नदियों और उनकी घाटी में पलने वाली सभ्यता के रूप में प्राप्त होती है।

हिन्दू स्वभाव से ही इतिहास प्रेमी नहीं रहे थे अतः उन्होंने कभी भी अपना इतिहास लिखने का प्रयत्न नहीं किया। हमें उनके बारे में जानकारी धार्मिक साहित्य, वेद पुराण, जातक कथाओं, बुद्ध व जैन साहित्य आदि से प्राप्त होती है।"[1] किन्तु भारतीयों में ऐतिहासिक चेतना थी। वे काल गणना से भी परिचित थे। विक्रम संवत्, शक संवत और गुप्त संवत इसके प्रमाण हैं। फिर भी भारतीयों ने अपनी बहुमुखी सफलताओं का विवरण ऐतिहासिक दृष्टिकोण से नहीं लिखा। उनकी रुचि धर्म और दर्शन की ओर ही अधिक रही। यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस और रोम के लिवी के समान इतिहासकार प्राचीन भारत में नहीं हुए। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय इतिहास को जानने में हमें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। इन कठिनाइयों में उपलब्ध स्रोतों की धार्मिक घटनाओं से तथ्यों की खोज करना तथा उनका काल क्रम निश्चित करना प्रमुख है।

1 डॉ. वी. एस. भार्गव : राजस्थान का इतिहास, पृ. 1

राजस्थान के इतिहास लेखन में ये स्रोत सम्बन्धी कठिनाइयाँ और भी अधिक अनुभव की जाती हैं। डॉ. गुप्ता व डॉ. ओझा के अनुसार— 'बिना आधार सामग्री के क्रमबद्ध सच्चा पूरा तथा निष्पक्ष इतिहास लिखना सम्भव नहीं है क्योंकि प्रारम्भ से ही शक्ति एवं शौर्य के प्रतीक राजस्थानी राज्य बराबर युद्धों में व्यस्त रहे थे जिससे काफी ऐतिहासिक सामग्री प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से नष्ट होती गई। इस भाँति राजस्थान इतिहास प्रसिद्ध होते हुए भी इतिहासविहीन है। निःसन्देह राजस्थान के अधिकांश स्थानों में पर्याप्त महत्त्वपूर्ण सामग्री अवस्थित तो है किन्तु उसे प्रकाश में लाने की आवश्यकता है। तथ्य यत्र तत्र बिखरे ऐतिहासिक साधन सामग्रियों को एकत्र कर इतिहास लिखा जा सकता है।[1] राष्ट्रीय जागृति के बाद देश में इतिहास के प्रति दृष्टिकोण बदला। अनेक विद्वानों ने कठिन परिश्रम से बिखरी हुई ऐतिहासिक सामग्री को एकत्रित कर प्राचीन भारतीय सभ्यता का इतिहास लिखा। ये ऐतिहासिक तथ्य उन्होंने विभिन्न साधनों से प्राप्त किये। राजस्थान के प्राचीन इतिहास के लेखन हेतु भी ऐसे ही प्रयास अनेक विद्वानों ने किये।

मध्यकालीन राजस्थान के ऐतिहासिक स्रोत व उनका वर्गीकरण

राजस्थान के प्राचीन इतिहास की अपेक्षा उसके मध्यकालीन एवं आधुनिक कालीन इतिहास के लेखन हेतु प्रचुर ऐतिहासिक स्रोत उपलब्ध होते हैं। डॉ. गोपीनाथ शर्मा का मत है कि— "जहाँ प्राचीन राजस्थान के निर्माण के साधन अत्यन्त न्यून हैं वहाँ पूर्व मध्यकालीन राजस्थान की जानकारी की सामग्री प्रचुर मात्रा में है। केवल इसके सम्बन्ध में कठिनता यही है कि यह सामग्री चारों ओर बिखरी पड़ी है जिससे उसको संग्रहीत कर घटनाओं का तिथिपरक उचित अंकन करना साधारणतः साध्य नहीं है। परन्तु प्रसन्नता का विषय है कि कर्नल टॉड, कविराजा श्यामलदास, महामहोपाध्याय डॉ. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा आदि मेधावियों ने अपने ढंग से इतिहास की सामग्री का ऐतिहासिक साहित्य के निर्माण और विकास में काफी प्रयोग किया है। फिर भी राजस्थान के इतिहास के अनुशीलन में वैज्ञानिक रूप से साधनों के संग्रह की आवश्यकता है जिनको मुख्य रूप में दो भागों में बाँटा जा सकता है—पुरातत्व सम्बन्धी और इतिहासपरक साहित्य सम्बन्धी।"[2] मध्यकालीन राजस्थान के ऐतिहासिक स्रोतों का उल्लेख करते हुए गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने इनका वर्गीकरण इस प्रकार किया है— मुसलमानों आदि के हाथ से नष्ट होने पर भी जो कुछ सामग्री बच रही और जो अब तक उपलब्ध हो चुकी है वह भी इतनी प्रचुर है कि उसकी सहायता से एक सर्वांगपूर्ण इतिहास लिखा जा सकता है। यह सामग्री चार भागों में विभक्त की जा सकती है—

1. डॉ. के. एस. गुप्ता व डॉ. जे. के. ओझा : राजस्थान का इतिहास, एक सर्वेक्षण, पृ. 288
2. डॉ. गोपीनाथ शर्मा : राजस्थान का इतिहास, पृ. 9

"(1) हमारे यहाँ की प्राचीन पुस्तकें।
(2) विदेशियों के यात्रा वर्णन और इस देश के वर्णन सम्बन्धी ग्रंथ।
(3) प्राचीन शिलालेख तथा दानपत्र।
(4) प्राचीन सिक्के, मुद्रा या शिल्प।"[1]

सुरवीरसिंह गहलोत ऐतिहासिक स्रोतों को केवल दो वर्गों में विभक्त करते हैं— राजस्थान का इतिहास जानने के मुख्य साधन हैं—पुरातत्व की सामग्री व साहित्यिक सामग्री।'[2] डा बी एस भार्गव ने राजस्थान के ऐतिहासिक स्रोतों को निम्नांकित प्रकारों में विभाजित किया है—(1) शिलालेख (2) सिक्के (3) स्मारक (4) ऐतिहासिक महाकाव्य, (5)रासो, (6)हिन्दी और राजस्थानी साहित्य, (7) जन पट्टावली, तथा (8) मुस्लिम तवारीखें।[3] बी एम दिवाकर के अनुसार— इन सब विद्वानों के भिन्न भिन्न विचारों का अध्ययन करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राजस्थान का इतिहास हम निम्नांकित साधनों द्वारा जान सकते हैं—

(1) 'शिलालेख और सिक्के
(2) पुरातत्व सम्बन्धी सामग्री और
(3) साहित्यिक साधन।"[4]

मध्यकालीन राजस्थान के इतिहास के ऐतिहासिक स्रोतों के उपरोक्त वर्गीकरण विभिन्न विद्वानों के दृष्टिकोण एवं राजस्थान में स्रोतों की उपलब्धि के आधार पर किये गये हैं। ये सभी स्रोत प्रकारान्तर से केवल दो वर्गों के अन्तर्गत समाहित किये जा सकते हैं—(1) पुरातात्विक स्रोत, एवं (2) इतिहासपरक साहित्यिक स्रोत। शिलालेख, सिक्के, दानपत्र भवन खुदाई से प्राप्त अवशेष पुरातात्विक स्रोतों के अन्तर्गत ही माने जाने चाहिए तथा शेष ग्रंथ, महाकाव्यों, फरमानों रासो ख्यातों आदि को इतिहासपरक साहित्यिक स्रोतों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जाना चाहिए।

उपरोक्त वर्गीकरण राजस्थान के मध्यकालीन इतिहास के लेखन हेतु विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया गया है। वस्तुत इस अध्याय में निर्धारित अध्ययन-काल (Period of Study)—1176 से 1900 ई जिसके अन्तर्गत 1200 से 1761ई का अध्ययन काल भी समाहित है—से सम्बद्ध राजस्थान के ऐतिहासिक स्रोतों का ही विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है। इन स्रोतों को हम मुख्यत निम्नांकित वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—

1 प गौरीशंकर हीराचन्द ओझा राजपूताने का इतिहास भाग-1, पृ 6
2 सुरवीरसिंह गहलोत राजस्थान का संक्षिप्त इतिहास, पृ 13
3 डॉ बी एस भार्गव मध्यकालीन राजस्थान का इतिहास पृ 13
4 बी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास, पृ 10

(1) पुरातात्विक स्रोत (Archaeological Sources)—
(i) पुरालखीय स्रोत (Epigraphic Sources),
(क) शिलालेख (Rock Edicts or Inscriptions)
(ख) मुद्रायें अथवा सिक्के (Coins)
(ग) ताम्र पत्र (Copper Plates)
(ii) दुर्ग (Forts)
(iii) राजप्रासाद या महल (Palaces),
(iv) मन्दिर व मूर्तियाँ (Temples and Sculpture)
(v) स्मारक (Memorials)
(vi) उत्खनन से प्राप्त अवशेष (Remains found by Excavations)।
(2) इतिहासपरक साहित्यिक स्रोत (Historical Literary Sources)
(i) संस्कृत साहित्य (Sanskrit Literature)
(ii) राजस्थानी साहित्य (Rajasthani Literature)
रासो काव्य एवं ख्यात साहित्य (Raso & Khyat Literature)
(iii) उर्दू व फारसी साहित्य (Urdu & Persian Literature)
(iv) जैन साहित्यिक ग्रंथ (Jain Literature)
(v) आधुनिक ऐतिहासिक ग्रंथ (Modern Historical Literature)।

उपरोक्त ऐतिहासिक स्रोतों का मध्यकालीन राजस्थान के सन्दर्भ में विवेचन निम्नांकित है—

(1) पुरातात्विक स्रोत
(Archaeological Sources)

पुरातात्विक स्रोतों का महत्व प्रदर्शित करते हुए डॉ. गोपीनाथ शर्मा का मत है कि— पुरातत्व सम्बन्धी सामग्री सबसे अधिक विश्वस्त है। मूक होते हुए इनमें ऐसे सच्चे ऐतिहासिक तत्व निहित हैं जो प्रामाणिक हैं। [1] पुरातात्विक स्रोतों के अन्तर्गत पुरालेखीय स्रोत—शिलालेख, मुद्रायें, ताम्र पत्र, दुर्ग, राजप्रासाद, मन्दिर, मूर्तियाँ, स्मारक, उत्खनन से प्राप्त अवशेष आदि—माने जाते हैं जो *तत्कालीन ऐतिहासिक जानकारी प्राप्त करने के प्राथमिक व प्रामाणिक साधन हैं।* मध्यकालीन एवं आधुनिक कालीन राजस्थान के इतिहास से सम्बन्धित ग्रन्थ स्रोत भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं किन्तु प्राचीन राजस्थान के इतिहास को जानने के पुरातात्विक स्रोत सर्वोत्तम एवं एकमात्र साधन होते हैं। डा. गुप्ता व डा. आभा का कथन है कि— प्राचीन राजस्थान का इतिहास लिखने में पुरातत्व सामग्री का

1 पूर्वोद्धृत, पृ. 9

बड़ा महत्त्व है। उत्खनन से प्राप्त अवशेषों के आधार पर तत्कालीन इतिहास जानने में कोई कठिनाई नहीं रह जाती है।'[1] राजस्थान के आहाड़, गिलूड, बागोर, नाद, कालीबंगा, पीलीबंगा आदि स्थानों पर हुए उत्खननों (खुदाई) से प्राप्त अवशेषों से प्राचीन सिन्धु घाटी सभ्यता तथा प्राचीन काल के विलुप्त तथ्य पुनः उजागर हुए हैं। इसके अतिरिक्त अन्य पुरातात्विक स्रोतों (दुर्ग, मन्दिर, मूर्तियाँ, महल, स्मारकों, सिक्कों आदि) से मध्यकालीन व आधुनिक कालीन राजस्थान के भी अनेक ऐतिहासिक तथ्य प्रकट होते हैं।

पुरातात्विक स्रोतों का मध्यकालीन राजस्थान के इतिहास के लिए विशेष महत्त्व है जिसका विवरण निम्नांकित है।

(1) पुरालेखीय स्रोत अथवा अभिलेखीय स्रोत

(Epigraphic Sources or Archival Sources)

डॉ. गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में— अभिलेख सम्बन्धी प्रमाण भी पुरातत्व के अन्तर्गत हैं जो पाषाण की पट्टियों, स्तम्भों, शिलाओं, ताम्रपत्रों, दीवारों, मूर्तियों एवं प्रतिमाओं पर खुदे हुए मिलते हैं। इनमें भाषा संस्कृत और राजस्थानी प्रयुक्त हुई है। इनमें से कई तो साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व के हैं। ये गद्य और पद्य में हैं। अभिलेख अधिकतर महाजनी लिपि या तत्कालीन लिपि में खोदे गये हैं। इन अभिलेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे दान या विजय के स्मारक हैं, अथवा प्रशस्ति या मृत्यु घटना के द्योतक हैं। तिथियाँ स्थापित करने और ऐतिहासिक घटनाओं तथा साहित्यिक स्थिति को समझने में इनकी सहायता असामान्य है।[2] गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार— 'भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास के लिए सबसे अधिक सहायक और सच्चा इतिहास बतलाने वाले शिलालेख और दान पत्र हैं।'[3] राजस्थान में प्राप्त अभिलेखों का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए डॉ. श्याम प्रसाद व्यास का कथन है कि—'राजस्थान की अभिलेखीय सामग्री का उपयोग अभी तक प्रमुखतया राजनीतिक इतिहास लेखन में हुआ है। लेकिन सांस्कृतिक दृष्टि से भी अभिलेखीय सामग्री का बड़ा महत्त्व है।

अन्य प्रदेशों के समान विवेच्ययुगीन राजस्थान में भी दो प्रकार के अभिलेख बहुसंख्यक हैं—एक प्रतिष्ठा अभिलेख और दूसरे दानपत्र। प्रतिष्ठा अभिलेख मन्दिर, मूर्ति, विहार, कूप, वापी, नहर, आश्रम आदि के निर्माण अथवा पुनः संस्कार के समय लिखवाये जाते थे। इनमें प्रायः उस समय शासन कर रहे नरेश की प्रशस्ति भी रहती थी। दानपत्र या दान शासन किसी ब्राह्मण, जैन या बौद्ध भिक्षु, विहार, गच्छ, मन्दिर, पदाधिकारी या किसी अन्य संस्था अथवा व्यक्ति को भूमि दान के अवसर पर लिखवाये जाते थे।

1 पूर्वोद्धत, पृ. 288
2 डॉ. गोपीनाथ शर्मा : राजस्थान का इतिहास, पृ. 10
3 पूर्वोद्धत, पृ. 12

किसी व्यक्ति या घटना की स्मृति में कभी कभी स्मारक अभिलेख भी उत्कीर्ण करवाये जाते थे। वस्तुतः इन अभिलेखों में दिवंगत व्यक्ति के साथ सती होने वाली स्त्रियों का उल्लेख होता था।[1]

इन पुरालेखीय स्रोतों का महत्त्व उनसे प्राप्त निम्नांकित ऐतिहासिक तथ्यों के कारण है—

(1) सामाजिक दशा—इन अभिलेखों में सम्बन्धित प्रदेश में निवास करने वाली विभिन्न जातियों, सती प्रथा, बहु विवाह प्रथा, तत्कालीन शासकों व अभिलेखों पर अंकित प्रतिमाओं से प्रचलित वेश भूषा व आभूषणों का ज्ञान होता है।

(2) आर्थिक दशा—इन अभिलेखों से ग्राम व नगरों के जन जीवन, नगर नियोजन, प्रचलित उद्योग, वाणिज्य व्यापार, बाजारों के निर्माण, तस्करों से उनकी सुरक्षा, कृषकों व व्यापारियों से वसूल किये जाने वाले राजकीय करों, क्रय विक्रय की वस्तुओं, शिल्पों, नाप तौल के मानकों, मुद्राओं, व्यापारियों व श्रमिकों की श्रेणियों आदि की सूचना उपलब्ध होती हैं।

(3) राजनीतिक दशा—इन अभिलेखों से राजा की स्थिति, उनके अधिकार, कर्त्तव्य, स्वच्छाचारिता, धार्मिक नीति, राज कर्मचारियों, राज्यों के उद्भव, विकास व संगठन, सामन्तों, केन्द्र में न्याय-व्यवस्था, जन कल्याण के निर्माण कार्यों (कुए, बावड़ी, तालाब, राजमार्गों आदि), तत्कालीन प्रशासनिक व्यवस्था आदि पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

(4) साहित्यिक दशा—इन अभिलेखों द्वारा तत्कालीन साहित्यिक उपलब्धियों, शासकों की साहित्यिक व शैक्षणिक अभिरुचियों व कृतियों में आश्रय प्राप्त साहित्यकारों आदि का विवरण मिलता है।

(5) तत्कालीन वास्तुकला की जानकारी—यह जानकारी भी कुछ अभिलेखों से प्राप्त होती है। सम्बन्धित स्मारकों, मन्दिरों, भवनों आदि की शिल्पकला व उनके शिल्पकारों का ज्ञान इन अभिलेखों से मिलता है।

(6) सांस्कृतिक दशा—अभिलेखों द्वारा समसामयिक सांस्कृतिक जीवन का प्रामाणिक विवरण भी प्राप्त होता है।

अध्ययन-काल के राजस्थान के इतिहास से सम्बन्धित अभिलेख

राजस्थान के इतिहास के आलोच्य काल से सम्बन्धित पुरालेखीय सामग्री निम्नांकित अभिलेखों से प्राप्त होती है—

(क) शिलालेख

(Rock Edicts)

वी. एस. भिवारकर के अनुसार— शिलालेखों में वंशावली के अतिरिक्त राजनीतिक दशा, सामाजिक व आर्थिक अवस्था, धर्म और नैतिकता का पता भी चलता है। इनमें राजाओं की विजय, यश और वीर पुरुष की गाथायें भी होती हैं।

1 डॉ. श्यामप्रसाद व्यास, राजस्थान के अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ 5-6

कुछ एक पुस्तकें भी शिलाओं पर खुदवा दी गई थीं। राजा भोज द्वारा रचित 'कूर्मशतक' नामक दो प्राकृत भाषा काव्य एक पाठशाला में पत्थरों पर खुदे मिले हैं। इसी प्रकार अजमेर के चौहान राजा विग्रहराज (बीसलदेव चतुर्थ) का लिखा 'हरिकेलि नाटक' भी शिलाओं पर खुदा मिला है।"[1] अजमेर स्थित ढाई दिन के झोंपड़े (चौहानकालीन संस्कृत पाठशाला) से प्राप्त शिलाओं पर हरिकेलि नाटक के अतिरिक्त राजकवि सोमेश्वर रचित ललित विग्रह नाटक भी उत्कीर्ण है। इस प्रकार शिलालेखों का राजस्थान के इतिहास में पर्याप्त महत्त्व है। अब तक 162 शिलालेख राजस्थान में प्राप्त हो चुके हैं जिनका विवरण निम्नांकित ग्रन्थों में संकलित है—

(i) Annual Reports of Rajputana Ajmer
(ii) Archaeological Survey Reports of India
(iii) Indian Antiquary
(iv) Epigraphia Indica
(v) Inscriptions of North India by Dr D R Bhandarkar
(vi) Jain Inscriptions by P C Nahar
(vii) प्राचीन जैन लेख संग्रह—मुनि जिनविजय।
(viii) Corpus Inscriptions
(ix) भावनगर अभिलेख
(x) राजस्थान के अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन
—डॉ श्याम प्रसाद व्यास।

उपरोक्त ग्रन्थों के आधार पर राजस्थान के इतिहास के अध्ययन काल से सम्बद्ध कुछ प्रमुख शिलालेखों का संक्षिप्त विवरण निम्नांकित है—

(1) बिजोलिया स्तम्भ लेख—यह शिलालेख 1169 ई का है जो बिजोलिया के पार्श्वनाथ मंदिर की उत्तरी दीवार के पास एक चट्टान पर उत्कीर्ण है। शर्मा और व्यास के अनुसार— "इसमें चौहान वंश के शासकों की उपलब्धियों का वर्णन है। इस लेख में चौहानों को वत्सगोत्र के ब्राह्मण बताया गया है।"[2] इस लेख के द्वारा चौहान शासकों के ग्रामदान, हस्तपवन दान व स्वर्णदान का पता चलता है। इससे हमें कुटिला नदी के समीप के शैव और जैन तीर्थों की सूचना भी मिलती है। प्रशस्तिकार ने उस समय की आबादी की वृद्धि की मात्रा भी बतलाई है। इस लेख में प्रयुक्त सामन्त, भुक्ति आदि शब्द के सङ्केत से सामाजिक व्यवस्था पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है। उस समय के नैतिक जीवन के विषय में भी इस लेख से जानकारी प्राप्त होती है। डा गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में—

1 डी एम भण्डारकर, राजस्थान का इतिहास, पृ 11
2 शर्मा और व्यास, राजस्थान का इतिहास, पृ 3

वास्तव में बारहवीं सदी के जन जीवन, धार्मिक अवस्था को जानने के लिए यह लेख बड़े महत्त्व का है।[1]

(2) लूणवसही की प्रशस्ति (आबू–देलवाड़ा, 1230 ई.)—इसमें आबू के परमार शासकों तथा वस्तुपाल व तेजपाल के वंश का वर्णन है। इसमें उल्लेख है कि तेजपाल ने आबू पर देलवाड़ा गाँव में लूणवसही नामक नेमिनाथ का मन्दिर अपनी पत्नी अनुपमा देवी के श्रेय के लिए बनवाया। इसमें कई गोष्ठिकाओं (गोठों) का वर्णन है जो वर्ष के विभिन्न अवसरों पर होने वाले मंदिर के उत्सवों का प्रबन्ध करती थी। इन गोष्ठिकाओं के सदस्यों की नामावलियाँ उस समय के कई श्रेष्ठि परिवारों का परिचय देती हैं, जो सामाजिक इतिहास के लिए उपयोगी हैं।

(3) नेमिनाथ (आबू) के मन्दिर की प्रशस्ति (1230 ई.)—यह तेजपाल के द्वारा बनवाए गए मन्दिर में स्थापित है। इस प्रशस्ति में ज्ञात होता है कि वस्तुपाल तथा तेजपाल ने अपने प्रभाव क्षेत्र में अनेक गाँवों में बावड़ियाँ कुँए सरोवर (तालाब) मन्दिर धर्मशालाएँ आदि का निर्माण या जीर्णोद्धार करवाया था। डा. गोपीनाथ शर्मा का मत है कि— यह प्रशस्ति उस समय के जनसमुदाय की विद्या निष्ठा दान परायणता तथा धार्मिक भावना की अच्छी परिचायक है।[2] इस प्रशस्ति की रचना सोमेश्वर ने की।

(4) हुडरा जोगियान (चूरू) का सती स्मारक लेख (1252 ई.)—इस शिलालेख में विदित होता है कि राठौड़ नरहरिदास की पत्नी पाहू देवी यहाँ सती हुई थी। इसमें यह भी पता चलता है कि राठौड़ों का विवाह सम्बन्ध भाटियों से होने लगा था।

(5) चीरवा का शिलालेख (1273 ई.)—यह शिलालेख उदयपुर से 8 मील उत्तर में स्थित गाँव चीरवा के एक मन्दिर के बाहरी दरवाजे पर लगा हुआ है डा. पी. एन. भार्गव के अनुसार— शिलालेख 1273 ई. का है। संस्कृत भाषा में निबद्ध 51 श्लोकों का शिलालेख मेवाड़ के गुहिलवंशी राणाओं के समरसिंह के काल तक की जानकारी प्रदान करता है। उस काल की प्रशासनिक व्यवस्था में तलारक्षों का कार्य तथा धार्मिक और सामाजिक प्रथाओं (जैसे सती प्रथा के प्रचलन) के बारे में जानकारी देता है। डा. गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में— इस लेख का 13वीं सदी की राजनीतिक आर्थिक सामाजिक और धार्मिक स्थिति के अध्ययन में बड़ा उपयोग है।[3]

(6) रसिया की छतरी का लेख (चित्तौड़—1274 ई.)—इस लेख में प्रशस्तिकार वेदशर्मा यहाँ की स्त्रियों की सुन्दरता पर विशेष ध्यान आकर्षित करता है। लेखक रानियों के शृंगार उनके चन्दन के उबटन के वर्णन के साथ हमें वनवासियों के जीवन से परिचित कराता है। इससे दास प्रथा एवं अस्पृश्यता की भी

1 डा. गोपीनाथ शर्मा राजस्थान के इतिहास के स्रोत
2 पूर्वोद्धृत पृ. 2–3
3 डा. गोपीनाथ शर्मा राजस्थान के इतिहास के स्रोत

जानकारी मिलती है। डॉ. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार—'इसमें युद्ध के समय के नैतिक आचरण का भी हमें बोध होता है। वैदिक यज्ञ तथा विद्वानों की उपाधियों के प्रचलन की जानकारी इस लेख से होती है। मेवाड़ की राजनीतिक सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति के अध्ययन के लिए इस शिलालेख का महत्त्वपूर्ण उपयोग है।"[1]

(7) चित्तौड़ का अभिलेख (1438 ई.)—महाराणा मोकल की आज्ञा से वन मन्दिर में यह शिलालेख लगाया गया है। इसका लेखक सवेग यति था। धार्मिक तथा सामाजिक स्थिति के विषय में इस लेख से महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ मिलती हैं। डॉ. गोपीनाथ शर्मा का कथन है कि—'इसमें दिए गए पत्नियों के नाम से बहु विवाह की परम्परा समृद्ध परिवार में थी इसका अनुमान होता है। उस समय के व्यापारियों का राजकीय स्तर पर भी अच्छा प्रवेश था, जो इस प्रशस्ति से स्पष्ट है। इस समय के दुष्काल का भी हम पता चलता है जबकि एक समृद्ध नागरिक दुष्काल पीड़ितों की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझता था।'

(8) कीर्ति स्तम्भ अभिलेख—यह प्रशस्ति चित्तौड़ के कीर्ति स्तम्भ की कई शिलाओं का सामूहिक नाम है। इसमें शिव तथा गणेश की स्तुति की गई है। इसमें वर्णन है कि महाराणा ने एकलिंगजी के मन्दिर के पूर्व की ओर कुम्भ मण्डप का निर्माण करवाया था। चित्तौड़ तथा चित्तौड़ के दुर्ग में बनाए गए मन्दिरों, मार्गों, जन य श्री द्वारों, जलाशयों का वर्णन उपयोगी है। 15वीं सदी के सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास के लिए यह प्रशस्ति विशेष महत्त्व रखती है।

(9) कुम्भलगढ़ का शिलालेख (1460 ई.)—इस लेख में जनजीवन तीर्थ स्थान जन समुदाय का वर्णन 15वीं सदी की सामाजिक स्थिति के अध्ययन के लिए उपयोगी है। इसमें दी गई सामाजिक संस्थाओं के उल्लेख जैसे—दासप्रथा आश्रम व्यवस्था वैदिक यज्ञ तपस्या धर्मशाला तथा पाठन व्यवस्था का वर्णन उपयोगी है। कुम्भलगढ़ का निर्माण तथा वहाँ अनेक मन्दिर बाग और बावड़ियाँ कुम्भा के द्वारा बनवाए जाने का उल्लेख है। इस प्रशस्ति का रचनाकार डॉ. ओझा के अनुसार महेश था किन्तु डॉ. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार कान्ह था।

(10) देलवाड़ा शिलालेख (1334 ई.)—यह शिलालेख चौदहवीं शताब्दी की धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति के तथ्यों को प्रकट करता है। इस लेख में 18 पंक्तियों में से 8 पंक्तियाँ संस्कृत भाषा तथा शेष मेवाड़ी भाषा में उत्कीर्ण है। इससे विदित होता है कि जनसाधारण में तत्कालीन भाषा मेवाड़ी प्रचलित थी।

(11) रणकपुर प्रशस्ति (1439 ई.)—डॉ. वी. एस. भार्गव के अनुसार—इससे मालूम पड़ता है कि महाराणा कुम्भा ने बूँदी, गागरोन, सारंगपुर, नागौर, चाटसू, अजमेर, मंडोर, माण्डलगढ़ को विजय किया था। उस समय नागन (नाणेर) नामक मुद्रा प्रचलित थी।'[2]

1–2 पूर्वोद्धृत p 1–3

(12) रायसिंह प्रशस्ति (1593 ई.)—डा. भार्गव के ही शब्दों में—"इसे बीकानेर के किले की समाप्ति के पश्चात् महाराजा रायसिंह ने लगवाया था। इस प्रशस्ति की 30वीं पंक्ति में रायसिंह की काबुलियों, सिंधियों और कच्छियों पर विजय का उल्लेख है।[1] डा. शर्मा व व्यास के अनुसार—"रायसिंह की धार्मिक और सांस्कृतिक गतिविधियों का प्रशस्ति में उल्लेख है।[2]

(13) सूरजपुर (डूंगरपुर) के माधवराय की प्रशस्ति (1591 ई.)—इस प्रशस्ति को संस्कृत पद्य तथा वागडी गद्य में लिखा गया है। इसमें बागड देश की संस्कृति का वर्णन है जिसमें ग्रामों की संख्या 3500 बतलाई गई है तथा डूंगरपुर के नगर, बगीचों, बावडियों, सरोवरों, कुओं, मंदिरों तथा शिक्षा व्यवस्था का भी वर्णन किया गया है। इस प्रशस्ति को गादा के पुत्र हरिदास ने लिखा था। डा. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार—"इसमें उस समय की सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक व्यवस्था पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।[3]

(14) सादडी का लेख (1597 ई.)—यह लेख सादडी स्थित एक बावडी के दाहिने भाग की दीवार पर लगा हुआ है। इसकी भाषा संस्कृत तथा लिपि देवनागरी है। इसमें उल्लिखित है कि ओसवाल जाति के कावड़िया गोत्र के भारमल की पत्नी कपूरा ने अपने पुत्र ताराचंद की पुण्य स्मृति में इस ताराबाव नामक तीर्थ का निर्माण किया। ताराचंद के साथ उसकी 11 पत्नियाँ सती हुई। डा. गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में—"प्रस्तुत लेख तथा मूर्तियों में उस समय की प्रचलित सती प्रथा पर प्रभूत प्रकाश पड़ता है।[4]

(15) डूंगरपुर के गोवर्धननाथजी के मंदिर की प्रशस्ति (1623 ई.)—यह प्रशस्ति महारावल पूंजा के समय की है। इसमें डूंगरपुर के शासक के विद्यानुरागी, कवि, वीर तथा शांतिप्रिय शासक होने, पूंजपुर गांव बसाने व सरोवर बनवाने, डूंगरपुर में नोलखा नामक बाग लगवाने व गोवर्धन का विशाल मंदिर बनवाने व बसई गाँव मंदिर को भेंट देने का विवरण दिया गया है।

(16) जगन्नाथ प्रशस्ति (1652 ई.)—यह प्रशस्ति उदयपुर के जगन्नाथराय के मंदिर के सभा मण्डप में जाने वाले भाग के दोनों ओर काले पत्थर पर उत्कीर्ण है। इस प्रशस्ति में राणा जगतसिंह के अनेक पुण्य कार्यों का वर्णन है जिसमें कल्पवृक्ष का दान प्रमुख है। डा. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार—"उक्त दान के संबंध में इसमें वर्णित है कि वह वृक्ष स्फटिक की वेदी पर खड़ा किया गया जिसकी मूल नीलमणि, सिर वडूर्यमणि, स्कंध हीरों, शाखा पीत मरकतमणि, पत्ते मूंगे, फूल पत्तियाँ के गुच्छे और फल रत्नों के बनाए गए थे। महाराणा विद्या प्रेमी थे। उन्होंने काशी के ब्राह्मणों के लिए बहुत सा स्वर्ण भेजा। महाराणा जगतसिंह ने लाखों रुपयों की लागत का जगन्नाथराय का जिसे अब जगदीश कहते हैं, भव्य पंचायतन मंदिर बनवाया। इन पुण्य कार्यों के वर्णन से उस समय

1 पूर्वोद्धृत p 3

2 डॉ. शर्मा व व्यास, राजस्थान का इतिहास, पृ. 5

3–4 पूर्वोद्धृत पृ. 173

की धार्मिक स्थिति तथा मुगलो से मेवाड के मधुर सम्बन्धो पर अच्छा प्रकाश पडता है। यह प्रशस्ति मेवाड के इतिहास के लिए बडी उपयोगी है।[1]

(17) त्रिमुखी बावडी की प्रशस्ति (1675 ई.)—यह प्रशस्ति दबारी के निकट त्रिमुखी बावडी म लगी है। इसम बापा स लेकर राजसिंह तक की उपलब्धिया सक्षेप म दी गइ हैं। जगतसिंह के समय म रत्न और स्वर्ण तुलादान, मदिर निमाण, श्वेताश्वदान कल्पतरुदान सप्तसागरदान आदि का इसम वर्णन किया गया है। इसम राजसिंह के समय म सवत्सरतु विलास नाम के बाग के बनाए जाने चारुमति के विवाह आदि का उल्लेख ह। जगतसिंह के द्वारा किए गए भूमिदान ग्रामदान, तुलादान आदि की सचना भी हमे इस प्रशस्ति म मिलती है। इसम राजपरिवार की व यात्रा के विवाह अवसर पर अन्य क यात्रा को दान देने का उल्लेख है। इसका प्रशस्तिकार रणछाड भट्ट था।

(18) राज प्रशस्ति (Raj Prashasti)—यह प्रशस्ति राजस्थान के शिलालेखो म सबस अधिक विस्तृत एव एतिहासिक महत्त्व की है। यह राज प्रशस्ति राजसमद पर बन नौ चौकी घाट पर शिलाओ पर उत्कीर्ण है। डा वी एस भागव का कथन है कि— राजसु द कत्रिम झील के निमाता मेवाड के महाराणा राजसिंह का आना म रणछाड भट्ट न सस्कृत म एक महाकाव्य रचा जिस काले पत्थर की 25 बडी बडी शिलाओ पर खुदवाकर झील के तट पर ताको म लगवाया गया जहा व आज भी विद्यमान हैं। प्रत्येक शिला 3 फीट लम्बी और 2 फीट चौडी है। इन शिलाओ म काव्य के 24 सग 1106 श्लोक खुद हुए हैं। छठी शिला का पढने स जाहिर होता है कि इस महाकाव्य को पत्थर की शिलाओ पर खुदवाने के आदेश राजसिंह के उत्तराधिकारी जयसिंह के द्वारा किए गए थ।'[2]

राज प्रशस्ति की रचना का मुख्य उद्देश्य और विषय महाराणा राजसिंह के जीवन एव उपलब्धियों का उल्लेख करना था लेकिन प्रसगवश कवि रणछोड भट्ट न मेवाड की सभ्यता और सस्कृति वेशभूषा शिल्पकला मुद्रा दान प्रणाली धर्म कर्म युद्धनीति इत्यादि पर प्रकाश डाला है। फलस्वरूप राज प्रशस्ति प्रधानत ऐतिहासिक महाकाव्य बन गया है। यह वर्णन कवि के व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर किया है, अतएव ऐतिहासिक स्रोत के रूप म राज प्रशस्ति का विशेष महत्त्व ह।

इससे ज्ञात होता है कि राणा कुम्भा की 1600 पत्नियां थी, जगतसिंह ने मरु मदिर और माहन मदिर नामक प्रासाद बनवाए थ। रूपसिंह की पुत्री चारुमति का विवाह राजसिंह स हुआ था। विक्रम सवत् 1721 के मध्य मास म सूर्य ग्रहण पडा था, उस समय राजसिंह न हिरण्य कामधनु नामक महादान किया था। इसम चन्द्र ग्रहण के अवसर पर (वि स 1729 म) कल्पलता नामक दान का उल्लेख किया गया है। इसन 46 हजार ब्राह्मणो को दान देने का भी उल्लेख है। इस प्रकार मेवाड के इतिहास की जानकारी के लिए राज प्रशस्ति का अत्यन्त

1 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान के इतिहास के स्रोत पृ 177
2 डॉ वी एस भागव राजस्थान का इतिहास, पृ 6

महत्त्व है। राज प्रशस्ति की रचना संस्कृत भाषा में की गई है किन्तु इसमें अरबी फारसी और लोक भाषा (मेवाड़ी) के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। डा. श्रीराम शर्मा ने इसे सामाजिक और धार्मिक परम्पराओं की जानकारी के लिए एक अच्छा प्रमाण स्वीकार किया है।

डॉ. गोपीनाथ शर्मा ने इसके महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि—'उस समय के विवाह, सेना, शिक्षा, निर्माण कार्य, मुद्रा, मन्दिर, शिक्षा, पठन-पाठन, समृद्धि, नगर योजना, उपवन, महल, वस्त्र और रत्नों की विशेषता, धर्मस्थान, व्यवसाय, निर्माण के साधन, भोजन के प्रकार, मिष्ठान्न आदि विविध विषयों पर प्रशस्तिकार प्रकाश डालता है।[1] डॉ. मोतीलाल मेनारिया ने इस प्रशस्ति के महत्त्व को इन शब्दों में व्यक्त किया है— मेवाड़ की संस्कृति, वेशभूषा, शिल्पकला, मुद्रा, दान प्रणाली, युद्धनीति, धर्म कर्म इत्यादि अनेकानेक अन्य बातों पर भी इसमें अच्छा प्रकाश पड़ता है।'[2] डॉ. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार—'यह अन्य महाकाव्यों के समान कवि की कल्पना नहीं है। इसमें सत्यता के साथ ऐतिहासिक घटनाओं का विवरण है जो इतिहास के लिए बड़ा उपयोगी है।[3] डॉ. शर्मा और व्यास के अनुसार— इसमें महाराणा राजसिंह के सार्वजनिक कार्यों, पुण्य कार्यों तथा विषयों का भी वर्णन किया गया है। वस्तुतः मेवाड़ के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास के निर्माण में यह प्रशस्ति अत्यधिक उपयोगी सिद्ध हुई है।[4]

(19) अरबी फारसी भाषा में उत्कीर्ण शिलालेख—राजस्थान के मध्यकाल के इतिहास के स्रोतों के रूप में केवल उपरोक्त संस्कृत व राजस्थानी भाषा के शिलालेख ही महत्त्वपूर्ण नहीं हैं अपितु मुस्लिम काल में उपलब्ध कुछ अरबी फारसी के शिलालेख भी उतने ही उपयोगी हैं। डॉ. गुप्ता व ओझा का यह कथन उपयुक्त है कि— मुस्लिम राज्य की स्थापना के बाद भारत में अरबी-फारसी के शिलालेख उत्कीर्ण किए जाने लगे। तब राजस्थान भी अछूता नहीं रहा। प्रायः दरगाहों, मस्जिदों, सरायों, तालाबों, कब्रों आदि स्थानों पर लगे इन शिलालेखों से राजस्थान का इतिहास लिखने में बड़ी सहायता मिलती है। जिन स्थानों पर इन शिलालेखों की बाहुल्यता है उससे लगता है कि वहाँ पर मुस्लिम या मुगल प्रभाव था। राजपूतों व मुस्लिम सुल्तानों या मुगल बादशाहों के सम्बन्धों को समझने में सहयोग मिलता है। साथ ही स्थान या भवन विशेष पर लगे शिलालेखों से यह भी ज्ञात होता है कि ये किसने, कब और क्यों बनवाए? इस भाँति अरबी व फारसी के शिलालेखों से भी तत्कालीन राजस्थान की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्थिति को समझने में बड़ी सहायता मिलती है। ये शिलालेख अधिकतर

1 डॉ. वी. एस. भार्गव, राजस्थान का इतिहास, पृ. 6
2 डॉ. गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान के इतिहास के स्रोत
3 डॉ. मोतीलाल मेनारिया, राजस्थानी भाषा और साहित्य
4 डॉ. गौ. ही. ओझा, पूर्वोद्धत

अजमेर नागौर, जालोर सांभर अलवर मेवाड़ टोंक, जयपुर आदि इलाकों में लगे हुए है। स्पष्ट है कि मुस्लिम सुलतानों या मुगल शासकों का इन क्षेत्रों में राजनीतिक प्रभुत्व था। इतना ही नहीं फारसी प्रशस्तियों में मुस्लिम या मुगल शासन की जानकारी भी मिलती है।'[1] इस प्रकार के अभिलेखों का संकलन डा. मांगीलाल व्यास मयंक ने किया है।[2]

उपरोक्त प्रकार के सभी अभिलेखों का विवरण देना तो सम्भव नहीं है किन्तु निम्नांकित कुछ प्रमुख शिलालेखों का महत्त्व इस प्रकार है—

(i) अजमेर की दरगाह शरीफ में शाहजहाँ का अभिलेख (1637 ई.)— इस शिलालेख में उत्कीर्ण है कि शाहजादा खुर्रम ने मेवाड़ के राणा पर विजय प्राप्त करने के बाद इस दरगाह में एक मस्जिद के निर्माण की प्रतिज्ञा की थी तथा उसी प्रतिज्ञा की पूर्ति हेतु इस मस्जिद का निर्माण कराया गया है।

(ii) अजमेर के तारागढ़ पर सैयद हुसैन मशहदी की दरगाह के शिलालेख (1808 व 1813)—इन शिलालेखों में इस ऐतिहासिक तथ्य का पता चलता है कि इस दरगाह का दालान बालाजी इंगलिया व राव गुमानजी सिंधिया ने बनवाया था।

(iii) मेड़ता की जामा मस्जिद का अभिलेख (1807–1808 ई.)— डा. मांगीलाल व्यास मयंक ने इस अभिलेख का उद्धृत करते हुए लिखा है कि— अभिलेख में कहा गया है कि राजा धोकल सिंह महाराजा भीमसिंह का उत्तराधिकारी पुत्र के प्रयासों से इस परित्यक्त मस्जिद का जीर्णोद्धार हुआ। यह भी कहा गया है कि मस्जिद की दुकानों के किराये के सम्बन्ध में गड़बड़ी करने वाला पाप का भागी होगा।'[3] इस अभिलेख में तत्कालीन मारवाड़ नरेश की धार्मिक सहिष्णुता की नीति स्पष्ट होती है।

(ख) मुद्राएँ या सिक्के
(Coins)

राजस्थान के अध्ययन काल की अवधि से सम्बन्धित अनेक सिक्के राजस्थान के विभिन्न भागों से उपलब्ध हुए हैं जिनसे तत्कालीन इतिहास के महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आये हैं। मुद्राओं या सिक्कों का राजस्थान के इतिहास में काफी महत्त्व है। राजस्थान के इतिहास के निर्माण में सिक्कों का उपयोग स्वीकार किया गया है। इनसे अनेक शासकों की धार्मिक प्रवृत्तियों दानशीलता आदि की भी जानकारी मिलती है। इन सिक्कों से तत्कालीन राजनीतिक सामाजिक धार्मिक, आर्थिक स्थिति के बारे में जानकारी मिलती है। इनसे तत्कालीन वंश भूषा, कला आदि का भी समुचित ज्ञान होता है।

1 डॉ. के.एस. गुप्ता व डा. जे.के. ओझा राजस्थान के इतिहास का एक सर्वेक्षण, पृ. 292
2 डॉ. मांगीलाल व्यास मयंक राजस्थान के अभिलेख
3 पूर्वोक्त पृ. 187

डा गोपीनाथ शर्मा के अनुसार—"मध्यकालीन युग के अब तक सोने, चांदी, तांबे और सीसे के हजारों सिक्के मिल चुके हैं। इन पर अंकित लेख, संख्या तथा चिह्न आदि मध्ययुगीन इतिहास के लिए बड़े उपयोगी हैं। इन सिक्कों के वैज्ञानिक अध्ययन से राजाओं की नामावली, वंश परिचय, स्थान विशेष तथा काल का समुचित बोध होता है। विभिन्न राजकुलों की सीमा निर्धारण करने में सिक्कों का बड़ा महत्त्व है। इन सिक्कों से तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक धार्मिक, आर्थिक आदि स्थिति का परिज्ञान होता है। इसी प्रकार तत्कालीन कला के अध्ययन में सिक्के बड़े काम के प्रमाणित हुए हैं।[1] डा गुप्ता व डा ओझा के शब्दों में—'सिक्कों पर अंकित शासकों के नाम, तिथि, उपाधि, राज चिह्न आदि से हम शासक का नाम लिपि धर्म व काल निर्धारण आदि में बड़ी सहायता मिलती है। सिक्कों के आधार पर हम राज्य की श्री सम्पन्नता एवं समृद्धि के स्तर को निर्धारित कर सकते हैं। सिक्कों के तोल धातु आकार प्रकार से उस काल विशेष की आर्थिक दशा की जानकारी होती है तथा सिक्कों के सुडौलपन व बनावट से कला के स्तर को भी आंका जा सकता है। किसी भी शासक के अधिक सिक्के उसके शासन की स्थिरता का बोध कराते हैं तो कम सिक्के या तो उसके अल्पकाल का या उसके कठिनाइयों से ग्रस्त शासन व्यवस्था का दिग्दर्शन कराते हैं। इसी भांति सिक्कों के आधार पर हम शासक विशेष की राज्य सीमाओं का अनुमान भी लगा सकते हैं कि उसका राज्य कहाँ तक फैला हुआ था।[2]

सिक्कों का उपरोक्त महत्त्व चौहानों के सिक्कों से प्रकट हो सकता है। चौहानों का साम्राज्य अत्यन्त विस्तृत था। चौहान शासकों के अनेक सिक्के मिले हैं जिन पर वृषभ और अश्वारोही अंकित है। अजमेर नगर के संस्थापक चौहान सम्राट अजय देव तथा उसकी रानी सोमलदेवी (सोम लेखा) के नाम की मुद्राएं (सिक्के) प्राप्त हुए हैं। अजय देव की मुद्राएँ चांदी व तांबे की बनी हैं और उनके अग्रभाग में पद्मासना देवी की आकृति उत्कीर्ण है। मनाल शिलालेख (1168 ई) तथा ढोड स्तम्भ लेख (1171 ई) में इन मुद्राओं का उल्लेख सप्रमाण रूप से इनके प्रचलन को प्रमाणित करता है। सोमलदेवी की तांबे की मुद्राओं के अग्रभाग में एक अश्वारोही की आकृति तथा पृष्ठ भाग में रानी का नाम उत्कीर्ण है। उसकी चांदी की मुद्राएं थोड़ी मात्रा में मिली हैं जो 'राजा के सिर अथवा जनभाषा में गधैया' का पैसा प्रकार का माना जाता है। इससे तत्कालीन समृद्ध आर्थिक स्थिति तथा राजा के साथ रानी का महत्त्व भी प्रकट होता है। जयानक ने 'पृथ्वीराज विजय' में लिखा है कि—'अजय देव ने चांदी (दुवण) के रुपयों अर्थात् सिक्कों से पृथ्वी भर दी और कवियों ने उसे अपने सुवर्णों (अच्छे अक्षरों) अर्थात सत्काव्य से भर दिया।[3]

1 डॉ गोपीनाथ शर्मा एतिहासिक निबंध राजस्थान पृ 172
2 पूर्वोद्धृत पृ 290
3 प्रो हैतसिंह बघेला उत्तरी भारत का इतिहास, पृ 191

चौहान साम्राज्य के पराभव काल में पृथ्वीराज तृतीय का 1192 ई. का एक सिक्का चौहानों के ह्रास काल को बतलाता है। बी. एम. दिवाकर ने इस सिक्के का विवरण देते हुए उसके महत्त्व का इस प्रकार उल्लेख किया है— 'उदाहरण के लिए हम पृथ्वीराज का एक सिक्का लें जो 19वीं शताब्दी में तारागढ़ (अजमेर) में प्राप्त हुआ। इस सिक्के में एक तरफ मुहम्मद गौरी का चित्र अंकित है और दूसरी तरफ पृथ्वीराज चौहान का। उन मूर्तियों के नीचे दोनों के नाम लिखे हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि पृथ्वीराज तराइन की लड़ाई में मारा नहीं गया था। संस्कृत और फारसी के लेखकों का यह कहना कदाचित् सही है कि तराइन के युद्ध के बाद दोनों में थोड़े समय के लिए मित्रता हो गई थी। इसी बात का समर्थन चित्तामणि काप भी करता है। साधारणतः लोग यह मानते हैं कि पृथ्वीराज को पकड़ कर मार डाला गया था। इस प्रकार एक सिक्का सारे इतिहास को बदलने की सामर्थ्य रखता है।'[1]

चौहान साम्राज्य के पतन के पश्चात् राजस्थान के अध्ययन काल के अन्तर्गत सिक्कों में अवनति का युग आरम्भ हो गया। डॉ. गोपीनाथ शर्मा का मत है कि— 'चौहानों की पराजय भारतीय मुद्राओं के ह्रास का काल था। कई पीढ़ियों से चलने वाली भारतीय मुद्राओं का स्वरूप इस विजय ने परिवर्तित कर दिया। कुछ विजेताओं ने भारतीय लिपि और नामों के साथ अपनी मुद्राओं का प्रचलन रखा, परन्तु शीघ्र ही भारतीय मुद्राओं पर हिजरी सन्, दिल्ली के सुल्तानों के नाम, पैगम्बरों के नाम आदि अंकित किए जाने लगे। तोल, आकार प्रकार, लिपि आदि ने नया स्वरूप ले लिया जो मुस्लिम मुद्रा शैली कहलाई। फिर भी यह नहीं समझना चाहिए कि राजस्थान की अपनी मुद्रा समाप्त हो चली थी। अलाउद्दीन के समय तक चलने वाले द्रम्म तेजसिंह (1261–1270) तक की ताँबे की मुद्रा कुम्भा के समय के चाँदी, सोना और ताँबे के सिक्के में तथा 1540 तक चलने वाले फदिया सिक्के राजस्थान में व्यवहार में आते रहे।'[2]

वस्तुतः सल्तनत व मुगलकालीन राजस्थान की विभिन्न रियासतों में अपने सिक्के काफी समय तक चलते रहे किन्तु उन पर मुस्लिम प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होने लगा। मेवाड़ में सोना, चाँदी व ताँबे के सिक्के चलते थे। कुम्भा के समय सोने, चाँदी व ताँबे के गोल व चौकोर सिक्के चलते थे। महाराणा अमरसिंह के समय मुगल सम्राट जहाँगीर से संधि हो जाने के बाद मेवाड़ में मुगलिया सिक्कों का प्रचलन हो गया। जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, कोटा, प्रतापगढ़ आदि राज्यों की अपनी टकसालें थीं जिनमें सिक्के ढाले जाते थे। जयपुर में झाड़शाही व बीकानेर में आलमशाही सिक्के चलते थे। जोधपुर में महाराजा गजसिंह तक गधिया व फदिया सिक्के चलते रहे किन्तु 1781 में महाराजा विजयसिंह ने शाह आलम के

1 बी. एम. दिवाकर : राजस्थान का इतिहास, पृ. 14
2 पूर्वोद्धृत, पृ. 175

नाम के सिक्के प्रचलित किये जो विजयशाही कहलाते थे। प्रतापगढ़ में मांडू व गुजरात के सिक्के चलते थे कि तु मुगल प्रभाव से बाद में शाह आलमशाही रुपये का सिक्का चलन लगा। इस प्रकार परिस्थितियों के अनुसार सिक्कों के प्रचलन में परिवर्तन आता गया जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

(ग) ताम्र-पत्र
(Copper Plates)

मध्यकालीन राजस्थान के इतिहास हेतु ताम्र पत्रों का भी विशेष महत्त्व है। डा गुप्ता व डा आभा के अनुसार— राजस्थान का इतिहास जानने के लिए ताम्र पत्रों का भी काफी महत्त्व है। प्राय राजा या ठिकाने के सामंतों द्वारा ताम्र पत्र दिये जाते थे। इनाम इकराम दान पुण्य जागीर आदि अनुदानों को ताम्र पत्रों पर खुदवाकर अनुदान प्राप्तकर्त्ता को दे दिया जाता था जिसे वह अपने पास सम्भाल कर सुरक्षित रखता था। यद्यपि अधिकतर ताम्र पत्र भूमि अनुदान से सम्बन्धित रहे हैं तथापि इनसे तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक आर्थिक व राजनीतिक स्थिति की जानकारी मिलती है जैसे इनसे यह स्पष्ट होता है कि किसने किसको कब किस खुशी में ताम्र पत्र दिया।[1]

दान पत्रों को ताम्र पत्र भी कहा जाता है क्योंकि इन पत्रों में तांबे की चद्दर का प्रयोग किया गया है। प्राचीन काल से ही राजा महाराजा रानियाँ सामंत और समृद्ध लोग दान पुण्य के लिए अनुदान देने के रूप में भूमिदान देते आये हैं। उस युग में यह परम्परा थी कि स्थायी अनुदानों को तांबे की चद्दरों पर उत्कीर्ण कर दिया जाता था। अनुदान विशेष रूप से पर्वों पर यात्रा के अवसर पर धार्मिक कार्यों पर मृत्यु पर अथवा विजय के उपलक्ष्य आदि के अवसर पर दिये जाते थे।

अध्ययन कालीन राजस्थान के इतिहास के कुछ प्रमुख ताम्र पत्रों का उल्लेख करना उनके ऐतिहासिक महत्त्व को प्रकट कर सकेगा। उदाहरणार्थ, प्रतापगढ़ दान पत्र (1622 ई) में सूर्य ग्रहण के अवसर पर दान देने का साँचोर ताम्र पत्र (1646 ई) में स्थानीय भाषा का कीटमती (प्रतापगढ़) ताम्र पत्र (1650 ई) में हरिसिंह के समय की विद्या की उन्नति का सरवानिया गाँव (बाँसवाड़ा) के दान पत्र से चन्द्र ग्रहण के अवसर पर दिए जाने वाले भूमिदान का पारणपुर (प्रतापगढ़) दान पत्र (1676 ई) से स्थानीय भाषा एवं करों का कोधाखेड़ी दान पत्र (1713 ई) से महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय की दानशीलता का बाँसवाड़ा के दो दान पत्रों (1749 व 1750 ई) से 18वीं सदी में मारवाड़ी भाषा के स्वरूप के विषय में जानकारी प्राप्त होती है।

1 पूर्वोक्त पृ 292

(ii) दुर्ग
(Forts)

राजस्थान के मध्ययुगीन इतिहास मे राजस्थान के विभिन्न स्थानो पर निर्मित सुदृढ दुर्गों या किलो का ऐतिहासिक सामरिक एव स्थापत्य कला की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व है। राजस्थान म प्रत्येक राज्य म तथा उनके विभिन्न प्रदेशो म कोई दुर्ग गढ या गढी स्थित है जो अपने मे राजपूतों के शौर्य वीरता एव बलिदान का इतिहास छिपाये हुए है। राजस्थान मध्यकाल मे विदेशी शक्तियो विशेषत मुस्लिम आक्रमणकारियो से युद्धो म व्यस्त रहा जिनमे इन दुर्गों की विशेष भूमिका रही। कुछ प्रमुख दुर्गों जैसे चित्तौड रणथम्भौर, सिवाना, जालोर बूदी, तारागढ बीकानेर कोटा शेरगढ जोधपुर जैसलमेर आदि के दुर्गों की सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थिति थी। चित्तौड व रणथम्भौर दुर्गों म हुए भीषण युद्धो व राजपूत रमणियो के जौहर की गाथाए राजस्थान के इतिहास मे स्वर्णिम अक्षरो म अकित हैं।

इन दुर्गों की स्थापत्य कला के सम्बन्ध म अगले अध्यायो म विवेचन किया जायेगा। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि दुर्गों का राजस्थान के इतिहास के लिए प्रमुख स्रोत के रूप म उपयोग किया जाना उपयोगी है।

(iii) राजप्रासाद या महल
(Palaces)

दुर्गों की भाँति राजस्थान के इतिहास की स्रोत सामग्री के रूप म विभिन्न स्थानो पर निर्मित राजाओ के महलो का भी अपना विशिष्ट स्थान है। राजप्रासादो के आकार भव्यता, स्थिति, स्थापत्य कला एव ऐतिहासिक महत्त्व की दृष्टि से उनका अध्ययन मध्यकालीन इतिहास के लेखन हेतु उपयोगी है। जयपुर, उदयपुर, जोधपुर अलवर बीकानेर कोटा बूदी आदि के राजमहल दर्शनीय ही नही अपितु वे तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक आर्थिक एव धार्मिक स्थिति से अवगत कराने के भी सक्षम स्रोत हैं। इन राजप्रासादो की दीवारो पर अकित चित्र भी अत्यन्त कलात्मक हैं तथा चित्रकला की राजपूत शैली को प्रदर्शित करते हैं।

(iv) मन्दिर व मूर्तियाँ
(Temples and Sculptures)

वैसे तो राजस्थान के प्रत्येक नगर व ग्राम म मन्दिर व मूर्तियाँ स्थित हैं किन्तु मध्यकालीन इतिहास से सम्बद्ध कुछ एसे मन्दिर व मूर्तियाँ राजस्थान म उपलब्ध हैं जिनम तत्कालीन राजनीतिक स्थिति म घटित महान् घटनाओ का परिज्ञान होता है। जैसे नाथद्वारा मन्दिर गोविन्द देव जी का जयपुर स्थित मन्दिर, कोटा का मथुरेश जी मन्दिर, आबू (देलवाडा) के जैन मन्दिर, पुष्कर, उदयपुर का जगदीश जी का मन्दिर आदि और उनमे स्थापित मूर्तियो का ऐतिहासिक महत्त्व है। मध्यकालीन राजस्थान म अनेक मन्दिर बने जिनके बाहरी व भीतरी

भागो म स्थापित मूर्तियो को यदि सूक्ष्मता से देखा जाये तो धार्मिक व सामाजिक जीवन के विषय म महत्त्वपूर्ण जानकारी मिल सकती है। डा गोपीनाथ शर्मा के शब्दो म परिवर्तित परिस्थितियो का प्रभाव मदिरो व मूर्तियो पर इस प्रकार परिलक्षित होता है—

"चित्तौड के कीर्ति स्तम्भ म उदयपुर के जगदीश मदिर म तथा राजनगर की नौ चौकी म सामाजिक भावो और जीवन को व्यक्त करने की अनेक मूर्तियाँ हैं जिनम हम 15वी स 17वी सदी के समाज की स्पष्ट झाँकी मिलती है। इन मूर्तियो म वस्त्र आभूषण शृगार आदि उपकरणो के विषय म प्रभूत मात्रा म सामग्री उपलब्ध होती है। ज्योही हम 16वी सदी म पदार्पण करते हैं त्योही इन मूर्तियो म स्पष्ट हो जाता है कि उच्च वर्गीय समाज पर मुगल प्रभाव बढता जा रहा था और एक सामजस्य की भावना पदा हो रही थी। नृत्य के दिखावो मे थोडे वस्त्रो का पहनावा मुगल परम्परा के अनुसार है। इसी तरह राज समुद की मूर्तियो म वेश भूषा पर मुगल प्रभाव है। इस सम्बन्ध म ठीक ही कहा गया है कि जिस प्रकार हम लिखित सामग्री स इतिहास के कलेवर का निर्माण करते हैं उसी प्रकार सृजनात्मक मूर्तिकला भी उस कलेवर को समृद्ध बनाने म योग देती है।[1]

(v) & (vi) स्मारक एव उत्खनन से प्राप्त अवशेष
(Memorials and Remains found by Excavations)

डा बी एस भार्गव के अनुसार— भवनो और भग्नावशेषो के द्वारा हम जीवन स्तर के सम्बन्ध म जानकारी मिलती है। समाज की वस्तु स्थिति धार्मिक भावनाओ एव आर्थिक स्थिति पर प्रकाश पडता है। इसम राजनीतिक उथल पुथल को समझने मे भी सहायता मिलती है। इतिहास के कलेवर को समृद्ध बनाने मे पुरातत्त्व सामग्री प्रचुर मात्रा म योगदान देती है। राजस्थान के मध्यकालीन इतिहास की सामग्री यद्यपि अभी नष्ट नही हुई है फिर भी कुछ धार्मिक मुस्लिम शासको की विध्वसकारी नीति के कारण कुछ मदिरो भवनो मूर्तियो स्मारको आदि को नष्ट भ्रष्ट कर उन्हे मस्जिद के रूप म परिणत कर दिया गया है जिनका वास्तविक ज्ञान उत्खनन द्वारा प्राप्त अवशेषो म होता है।

उदाहरणार्थ अजमेर स्थित चौहान कालीन सरस्वती मदिर को अल्तमश सुल्तान ने नष्ट भ्रष्ट कर उस ढाई दिन के झोंपडे के रूप म परिवर्तित किया। इस तथ्य का पता वहाँ उत्खनन से प्राप्त शिलाओं पर अकित चौहान नरेश विग्रह राज चतुर्थ द्वारा रचित हरिकेलि नाटक व उसके राजकवि सोमदेव कृत ललित विग्रहराज नाटक स लगता है। अयोध्या म स्थित बाबरी मस्जिद राम जन्म भूमि है इस तथ्य का पता भी उस मस्जिद म लगे पाषाणो स लगा है। औरगजेब ने

1 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान के इतिहास के स्रोत
2 पूर्वोद्धृत पृ 7

अनेक मंदिरों व मूर्तियों को तोड़ कर मस्जिद में परिवर्तित किया जिसका पता वहाँ के उत्खनन द्वारा लगा है।

स्मारकों में राजस्थान की मध्ययुगीन इमारतें जिनमें भग्नावशेष दुर्ग राजप्रासाद मंदिर स्तम्भ, समाधियाँ छतरियाँ आदि सम्मिलित हैं। स्मारक भी इतिहास के निर्माण में महत्वपूर्ण प्रमाणित हुए हैं। इनके द्वारा धार्मिक भावनाओं को, वास्तु शैलियों को तथा जनजीवन के स्तर को आँका जा सकता है। चित्तौड़ कुम्भलगढ़ गागरौन रणथम्भौर, आमेर जालौर आदि के दुर्ग सैनिक साधना सुरक्षा व्यवस्था पर ही प्रकाश नहीं डालते वरन् उस समय के राज परिवार तथा जन साधारण के जीवन को स्पष्ट रूप से बताते हैं।

स्मारकों में चित्तौड़ के दुर्ग में स्थित कीर्ति स्तम्भ महाराणा कुम्भा की कीर्ति पताका को स्थाई रूप से फहराते रहने का एक अनुपम स्मारक है। इसकी वास्तुकला मूर्तियाँ व शिलालेख ऐतिहासिक महत्व के हैं। डा गोपीनाथ शर्मा के अनुसार— महाराणा कुम्भा का बनवाया हुआ नौ मंजिल का विशाल कीर्ति स्तम्भ राणा ने मालवा के सुलतान महमूदशाह खिलजी को परास्त करने की स्मृति में बनवाया था। यह स्तम्भ अनेक देवी देवताओं और सामाजिक जीवन की परिचायक मूर्तियों का कोष है।"[1] इसी प्रकार चित्तौड़गढ़ में ही जैन विजय स्तम्भ भी 11वीं सदी में जीजा द्वारा निर्मित एक स्मारक है। ऐसे ही अनेक स्मारक स्तम्भों, समाधियों सती छत्रियों देवली मंदिरों, बावड़ियों तालाबों, महलों आदि के रूप में राजस्थान में यत्र तत्र पाये जाते हैं जिनसे मध्ययुगीन इतिहास के तथ्य प्रकट होते हैं।

(2) इतिहासपरक साहित्यिक स्रोत
(Historical Literary Sources)

डा गोपीनाथ शर्मा का मत है कि— राजस्थान के इतिहास के साधन के अन्तर्गत साहित्यिक कृतियों का एक विशेष महत्व है। वैसे तो इन कृतियों के सृजन का उद्देश्य साहित्य सेवा या किसी राजा महाराजा को प्रसन्न करने का ही हो सकता था परन्तु आनुषंगिक रूप से ऐसी साहित्यिक कृतियों द्वारा कई ऐतिहासिक तथ्यों पर भी प्रकाश पड़ता है।'[2]

राजस्थान के इतिहास के अध्ययन काल से सम्बद्ध इतिहासपरक साहित्यिक स्रोतों को निम्नांकित रूप से वर्गीकृत किया जा सकता है—

(i) संस्कृत साहित्यिक स्रोत (Sanskrit Literary Sources)—अध्ययन काल के लिए ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्रोत ग्रन्थ निम्नांकित हैं—

1 डॉ गोपीनाथ शर्मा ऐतिहासिक निबन्ध राजस्थान, पृ 81-82
2 वही पृ 179

(1) **चौहानों से सम्बंधित संस्कृत स्रोत ग्रंथ**—"चौहान शासक अजयराज अर्णोराज विग्रहराज चतुर्थ तथा पृथ्वीराज तृतीय केवल महान् योद्धा ही नहीं थे उनके राजाश्रय में अनेक विद्वान् व साहित्यकार रहते थे। विग्रहराज चतुर्थ कवियों द्वारा कवि बांधव के नाम से पुकारा जाता था। उसने स्वयं हरिकेलि नाटक की रचना की थी जिसमें अर्जुन के प्रायश्चित तथा शिव से उसके युद्ध का वर्णन है। विग्रहराज चतुर्थ का राजकवि सोमदेव 'ललित विग्रहराज' नाटक का रचयिता है।[1] ये दोनों नाटक संस्कृत में रचित एवं शिलाओं पर उत्कीर्ण चौहानों द्वारा स्थापित सरस्वती मंदिर' (वर्तमान ढाई दिन का झोपड़ा) से प्राप्त हुए हैं। इसका उल्लेख पूर्व में शिलालेखों के अन्तर्गत किया जा चुका है।

चौहान शासकों से सम्बंधित आवश्यक तथ्यों का पता हम उनके आश्रय में रहे कवियों व साहित्यकारों से लगता है। पृथ्वीराज तृतीय के मंत्री पद्मनाथ ने 'जादुला शिलालेख' की रचना की तथा उसके कश्मीरी कवि जयानक ने पृथ्वीराज विजय काव्य लिखा जो ऐतिहासिक दृष्टि से उपयोगी रचना है। डा. गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में— जयानक का पृथ्वीराज विजय जो बारहवीं शताब्दी में लिखा गया था चौहानों के इतिहास तथा पृथ्वीराज द्वारा लड़े गए तराइन के युद्ध के लिए बड़ा उपयोगी है। इसी तरह नयचन्द्र सूरी का हम्मीर महाकाव्य (1403 ई.) रणथम्भौर के शासकों के इतिहास तथा हम्मीर द्वारा अलाउद्दीन के विरुद्ध लड़े गए युद्ध के अध्ययन के लिए बड़ा उपयोगी है।[2]

(2) **उदयपुर राज्य के इतिहास के लिए संस्कृत स्रोत ग्रंथ**—मध्यकालीन उदयपुर राज्य के इतिहास से सम्बद्ध संस्कृत ग्रंथों में जीवाधार का अमरसार जगतसिंह काव्य, रणछोड़ भट्ट कृत राज प्रशस्ति महाकाव्य, राज्याभिषेक पद्धति और अमरकाव्य उल्लेखनीय हैं। अमरकाव्य में हमें महाराणा प्रताप के अंतिम वर्षों का सच्चा इतिहास मिलता है और इसके द्वारा हमें यह भी परिज्ञान होता है कि महाराणा के समय में शासन सम्बंधी कितने उपयोगी परिवर्तन मेवाड़ में किए गए थे। राजरत्नाकर से हमें हल्दीघाटी में अपनाए गए राजपूतों के युद्ध-कौशल का पता चलता है। राज प्रशस्ति महाकाव्य में महाराणा राजसिंह के समय में धार्मिक कृत्यों पर तथा सुधार और निर्माण कार्यों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इसी काव्य के द्वारा हमें मेवाड़ और मारवाड़ के संयुक्त मोर्चे से किस प्रकार औरंगजेब की फौजों से टक्कर ली गई थी उसका अच्छा वर्णन मिलता है। राज्याभिषेक पद्धति में प्राचीन और मध्यकालीन राज्याभिषेक के उत्सव का सामंजस्य दिखाई देता है जिसका

1 प्रो. हुकमसिंह बघेला उत्तरी भारत का इतिहास पृ. 229–230
2 डॉ. गोपीनाथ शर्मा ऐतिहासिक निबंध राजस्थान पृ. 180
तथा Dr Dashrath Sharma Early Chauhan Dynasties p 337 38
3 वही, पृ. 179

प्रचलन महाराणा राजसिंह के समय में था। (सदाशिव कृत) 'राज रत्नाकर' के द्वारा धार्मिक व सामाजिक कृत्यों पर प्रकाश पड़ता है।''[3] इसके अतिरिक्त मंडन कृत राजवल्लभ स्थापत्य कला की तथा कुम्भा रचित 'एकलिंग महात्म्य' गुहिल वंशी शासकों की वंशावली व सामाजिक दशा को समझने में सहायक स्रोत ग्रंथ हैं।

(3) अन्य राज्यों से सम्बन्धित संस्कृत ग्रंथ—जयपुर राज्य के संस्कृत स्रोत ग्रंथों में सीताराम भट्ट कृत जयवंश महाकाव्यम् तथा श्रीकृष्ण भट्ट कृत ईश्वर विलास महाकाव्यम्' जयसिंह व ईश्वरीसिंह नरेशों के विवरण व तत्कालीन राजनीतिक सामाजिक व धार्मिक स्थिति की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।[1] बूँदी राज्य तथा तत्कालीन राजस्थान के ऐतिहासिक तथ्य सुर्जन चरित्र व शत्रुशालकाव्य' से विदित होते हैं।[2] 'जोधपुर राज्य के इतिहास के अध्ययन के लिए जगजीवन का 'अजितोदय (संस्कृत) काव्य की दृष्टि से तो अनुपम ग्रंथ है ही परन्तु इसकी ऐतिहासिक उपयोगिता भी किसी स्तर कम नहीं है। राठौड़–मुगल संघर्ष का सच्चा विवेचन हम इस ग्रंथ से उपलब्ध होता है।[3] भट्टिकाव्य में जैसलमेर राज्य के विषय में जानकारी मिलती है। सदाशिव कृत राज विनोद' संस्कृत ग्रंथ से बीकानेर के 16वीं शताब्दी के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन की झलक मिलती है।[4]

(ii) राजस्थानी साहित्य (Rajasthani Literature)—राजस्थानी साहित्य के अन्तर्गत राजपूत नरेशों के राज्याश्रय में रहे चारण–भाटों की कृतियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। डा. एम. दिवाकर का मत है कि— यूनानी और मुसलमान आक्रमणकारी अपने दरबार में विद्वान् रखते थे जो अपने शासकों की विजय गाथा का वर्णन लिखते रहते थे। इन्हीं से प्रभावित होकर मध्यकालीन राजपूत राजाओं ने विद्वानों और कवियों को अपने दरबार में सम्मान देना शुरू किया। ये कवि राजाओं की प्रशंसा में महाकाव्यों की रचना करते और राजघरानों का पूरा वर्णन लिखते रहते थे। ऐसे कवियों को समय की बोली और भाषा में भाट या चारण कहा गया। धीरे धीरे यह एक जाति बन गई जिसका काम बड़े लोगों की प्रशंसा का काव्य में अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करना मात्र रह गया। इन भाटों और चारणों के काव्यों में भी इतिहास की सामग्री भरी पड़ी है। आवश्यकता है उनकी रचनाओं का बिना आवेश के समालोचनात्मक अध्ययन कर सत्य निकाल लेने की।'[5] राजस्थानी भाषा में रचित ऐतिहासिक दृष्टि से उपयोगी साहित्य राजस्थान में अनेक विधाओं में लिखा गया है जिनमें आलोच्य अध्ययनकाल की स्रोत सामग्री के रूप में निम्नलिखित विधाएँ एवं रचनाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं—

1 *Dr Gopi Nath Sharma* Jaipur Through Ages
2 नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग—46 पृ 205–223
3 डॉ गोपीनाथ शर्मा ऐतिहासिक निबन्ध राजस्थान पृ 180
4 डॉ गुप्ता व डॉ ओझा राजस्थान का इतिहास पृ 297–298
5 डी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास पृ 18

(क) रासो (Raso)—चारण व भाटों द्वारा रचित रासो साहित्य में नरपति नाल्ह कृत 'बीसलदेव रासो' तथा चन्दबरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' विशेष उल्लेखनीय हैं। बीसलदेव रासो हमारे अध्ययन काल के पूर्व की रचना है जिसमें चौहान नरेश विग्रहराज तृतीय व परमार राज उदयादित्य के संघर्ष का विवरण मिलता है। 'पृथ्वीराज रासो' पृथ्वीराज तृतीय के सम्बन्ध में अनेक ऐतिहासिक तथ्यों से हमें अवगत कराता है किन्तु इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। डॉ. गोपीनाथ शर्मा का मत है कि—'रासो काव्य में चन्दबरदाई का पृथ्वीराज रासो बड़ा प्रसिद्ध है। आधुनिक शोध से यह निश्चित हो गया है कि पृथ्वीराज रासो 16वीं शताब्दी के आसपास लिखा गया था और इसलिए इसमें अंकित घटनाओं, वंशावलियों तथा व्यक्तियों की नामावली में कई अशुद्धियाँ रह गई हैं। परन्तु भाषा के अध्ययन के लिए 16वीं शताब्दी की युद्ध शैली की जानकारी के लिए तथा उस समय के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की झाँकी के लिए पृथ्वीराज रासो की उपयोगिता टाली नहीं जा सकती।'[1] अतः रासो विधा में रचित राजस्थानी साहित्य ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक उपयोगी नहीं कहा जा सकता।

(ख) राजस्थानी इतिहासपरक काव्य ग्रन्थ—ऐतिहासिक महत्त्व के कुछ राजस्थानी भाषा में रचित काव्य ग्रन्थ भी स्रोत सामग्री के रूप में उल्लेखनीय हैं जिनमें शिवदास लिखित 'अचलदास खीची री वार्ता' (1433 ई.) गागरोन के खीची शासकों के विषय में, पद्मनाभ कृत 'कान्हड़दे प्रबन्ध' (1455 ई.) अलाउद्दीन के जालौर-आक्रमण से सम्बन्धित, बीकानेर के राजकुमार दलपत सिंह कृत 'दलपत विलास' अकबर-हुमायूँ संघर्ष से सम्बन्धित, खिड़िया जगा कृत 'वचनिका धरमत युद्ध' के विषय में, कुँवर पृथ्वीराज राठौड़ कृत 'बेलि क्रिसण रुकमणी री' तत्कालीन रीति रिवाज व वेश भूषा से सम्बन्धित, जोधपुर के चारण कवि वीरभाण रचित 'राजरूपक' अभयसिंह के विषय में तथा कवि या करणीदान कृत 'सूरज प्रकाश' जोधपुर नरेशों (जसवन्तसिंह, अजीतसिंह व अभयसिंह) से सम्बद्ध ऐतिहासिक तथ्यों के लिए उपयोगी हैं। इन काव्यों में सूर्यमल्ल रचित 'वंश भास्कर' का सर्वाधिक ऐतिहासिक महत्त्व है।

वंश भास्कर (Vans Bhaskar)—वंश भास्कर के रचयिता सूर्यमल्ल मिश्रण का जन्म तत्कालीन बूँदी रियासत के हरणा गाँव में 19 अक्तूबर, 1815 ई. को एक चारण परिवार में हुआ था। उनकी माता पिता का नाम क्रमशः भवानी बाई तथा चण्डीदान था। उनके पिता विद्वान् व प्रतिभाशाली कवि थे। डा. गुप्ता व डा. आभा के अनुसार—'बूँदी का नरेश रामसिंह उसकी बड़ी इज्जत करता था। सूर्यमल्ल मिश्रण को बचपन से ही ऐतिहासिक एवं साहित्यिक वातावरण मिला था। उसमें विद्या, विवेक और वीरत्व का सुन्दर समन्वय था। उसकी गणना बूँदी के पाँच रत्नों में थी। वास्तव में वह चारणी आदर्शों का मूर्त रूप

1 डॉ. गोपीनाथ शर्मा, ऐतिहासिक निबन्ध राजस्थान, पृ. 181

था। वह स्तुतिपरक नहीं था। 'इतिहास में प्रशंसा नहीं होती' इस सिद्धान्त से प्रेरित रहते हुए उसने सदैव सत्य का ही समर्थन किया और जब सत्यता पर आंच आते देखी तो बड़े से बड़े लोभ को भी उसने ठुकरा दिया। परिणामस्वरूप वंश भास्कर ग्रंथ भी अधूरा रह गया। महाकवि सूर्यमल्ल का देहान्त आषाढ़ सुदी 11 वि० सं० 1925 (1868 ई.) को हुआ।'[1] यह कथन 'वंश भास्कर' ग्रंथ की ऐतिहासिकता को प्रकट करता है।

सूर्यमल्ल रचित ग्रंथों में केवल दो ग्रंथ ही—(1) वंश भास्कर तथा (2) वीर सतसई विशेष महत्त्व के हैं। वीर सतसई के विषय में डा. महेश कुमार आभा का यह कथन है कि— वीर सतसई राष्ट्रीय चेतना का एक ऐतिहासिक दस्तावेज है। वस्तुतः यह काव्य 1857 के गदर की लिखित साक्षी है। वीर रसावतार सूर्यमल्ल ने वंश भास्कर की रचना को बीच में ही छोड़ कर देशवासियों में स्वातन्त्र्य चेतना एवं राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत की।'[2] डॉ. गुप्ता व डा. आभा ने 'वंश भास्कर' के विषय में कहा है कि—'वंश भास्कर का क्षेत्र काफी विस्तृत है। यद्यपि वंश भास्कर का उद्देश्य मुख्यतः बूंदी के हाड़ा वंश का इतिहास लिखना ही था तथापि ऐतिहासिक कलेवर में राजस्थान का ही नहीं अपितु समस्त भारतवर्ष का इतिहास समाया हुआ है।[3] वंश भास्कर के विषय में विभिन्न इतिहासकारों के मत उल्लेखनीय हैं। डा. कानूनगो के शब्दों में— वंश भास्कर का सबसे अधिक महत्त्व ऐतिहासिक सामग्री का विशाल संगठन है।[4] गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का मत है कि— मिश्रण ने इतिहास लिखने में विशेष खोज की हो ऐसा नहीं पाया जाता है।[5] डा. गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में— सूर्यमल्ल मिश्रण का वंश भास्कर उपयोगी होते हुए भी 16वीं शताब्दी के आसपास की भाटों की रचनाओं के आधार पर लिखा जाने से विश्वास योग्य नहीं है।[6] इन मतों के होते हुए भी वंश भास्कर का ऐतिहासिक महत्त्व है क्योंकि सूर्यमल्ल उपलब्ध स्रोतों के आधार पर ही सत्यता की रक्षा हेतु अपने इस ग्रंथ की रचना की और अपने आश्रयदाता बूंदी के महाराव रामसिंह से मनमुटाव होते ही इस ग्रंथ को अधूरा छोड़ दिया जिसे बाद में उनके दत्तक पुत्र मुरारीदान ने पूरा किया किन्तु डा. आलमशाह खान के अनुसार— ग्रन्थ की मूल योजना के विचार से मुरारीदान की पूर्ति के उपरान्त भी वंश भास्कर अपूर्ण ही है।' डा. दशरथ शर्मा, डा. मोतीलाल गुप्त, कृष्णसिंह बारहट व डा. मथुरालाल शर्मा का मत है कि वंश भास्कर इतिहास की दृष्टि से एक उपयोगी ग्रन्थ है।

1 डॉ. गुप्ता व डॉ. ओझा : राजस्थान का इतिहास : एक सर्वेक्षण पृ. 298–99
2 राजस्थान पत्रिका 15 अगस्त 1989
3 पूर्वोक्त p 300
4 *Quanungo K R* : Studies in Rajput History
5 गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : राजपूताना का इतिहास
6 पूर्वोक्त p 200

(ग) ख्यातें (Khyats)—ख्यात वंशावली तथा प्रशस्ति का विस्तृत रूप है। 17वीं और 18वीं शताब्दी के इतिहास की जानकारी के लिए ख्यात साहित्य का महत्त्व बहुत अधिक है। ये ख्यातें राजस्थानी भाषा में गद्य साहित्य के रूप में मिलती हैं। डा. गोपीनाथ शर्मा का मत है कि— ख्यात वंशावली तथा प्रशस्ति लेखन का विस्तृत रूप है। वंशावली लिखने की परम्परा पौराणिक काल से मिलती है तथा प्रशस्ति लेखन की परिपाटी ईसा की चौदहवीं शताब्दी में देखी गई है। इस प्रकार प्रशस्ति तथा वंशावलियों के लिखने की पद्धति को आधार बना कर ख्यातों का लिखना आरम्भ हुआ जिसका विस्तृत रूप सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रमाणित होता है।[1] इनमें से कुछ प्रमुख ख्यातों का विवरण इस प्रकार है—

(1) नैणसी री ख्यात (Nainsi Ri Khyat)—मुहणोत नैणसी का जन्म 1610 ई. में ओसवाल परिवार में हुआ। नैणसी ने जोधपुर नरेश गजसिंह व जसवन्तसिंह के समय में अनेक युद्धों में भाग लिया और युद्धों का संचालन किया। 1667 में महाराजा जसवन्तसिंह ने नैणसी को दीवान के पद पर नियुक्त किया। बाद में जसवन्तसिंह द्वारा बन्दी बनाये जाने पर नैणसी ने 1670 ई. में आत्महत्या कर ली। डा. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार— नैणसी को बाल्यकाल से ही इतिहास सम्बन्धी बातों की जानकारी में बड़ी रुचि थी। जब कभी वे किसी चारण, भाट या किसी विशेष जानकार व्यक्ति से मिलते थे या किसी पुरानी पुस्तक को पढ़ते थे तो वे इतिहास के उपयोगी अंश को अपनी डायरी में दर्ज कर लिया करते थे। जब वे महाराजा जसवन्तसिंह के दीवान नियुक्त हुए तो इस कार्य में उन्हें अधिक सुविधा हो गई। धीरे धीरे यह संकलन समृद्ध होता गया जो मुहणोत नैणसी री ख्यात के नाम से विख्यात है। इसमें काठियावाड़, मालवा, बुन्देलखण्ड, उदयपुर, बाँसवाड़ा, डूंगरपुर, प्रतापगढ़, जोधपुर, बीकानेर, किशनगढ़, जयपुर, बूंदी, सिरोही आदि राज्यों के इतिहास का बहुत बड़ा संग्रह है। कई वंशों की पीढ़ियाँ जो इसमें दी गई हैं अन्यत्र अप्राप्य हैं।[2] ऐतिहासिक उपयोगिता के अतिरिक्त नैणसी की ख्यात का साहित्यिक महत्त्व भी है। इस ख्यात से उत्तरकालीन मध्ययुग की राजस्थानी भाषा पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

मुंशी देवी प्रसाद ने तो नैणसी को राजपूताने का अबुल फजल कहा है।[3] वस्तुतः यह कथन सत्य है क्योंकि जिस प्रकार अकबर बादशाह के समय अबुल फजल ने अपने ग्रन्थ आइने अकबरी की रचना की उसी प्रकार मारवाड़ राज्य से सम्बद्ध ग्रन्थ की रचना नैणसी ने की। डा. मनोहरसिंह राणावत के शब्दों में— एक इतिहासकार के रूप में भारतीय साहित्य को नैणसी की देन सर्वथा अनुपम है। 14वीं शताब्दी के बाद के राजपूतों के राजनीतिक इतिहास के लिए तो नैणसी की ख्यात फारसी ग्रन्थों से कहीं अधिक विशेष महत्त्व की है।

1-2 पूर्वोद्धृत पृ. 183-84
3 ओझा निबन्ध संग्रह पृ. 72-74

फारसी के इतिहास ग्रन्थों में जो अन्तराल पाये जाते हैं नैणसी की ख्यात उनकी बहुत कुछ पूर्ति करती है।[1]

(ii) 'परगना री विगत' (Paragana Ri Vigat)—यह ग्रन्थ भी मुहणोत नैणसी की रचना है। डा राणावत ने इसके सम्बन्ध में कहा कि—नैणसी का दूसरा ग्रन्थ 'मारवाड़ रा परगना री विगत' मारवाड़ का इतिहास ग्रन्थ ही नहीं है अपितु वहाँ के सभी परगना की जानकारी का सब संग्रह है। इसमें राठौड़ राजवंश के संस्थापक राव सीहा से महाराजा जसवन्तसिंह के शासनकाल के 1665 ई तक के इतिहास का विवरण है। प्रत्येक परगना के इतिहास के साथ ही जोधपुर के शासकों द्वारा नियुक्त वहाँ के विभिन्न अधिकारियों का भी उल्लेख कर दिया गया है और प्रत्येक परगने के गाँवों का भी विस्तृत वर्णन दिया गया है जिससे मारवाड़ राज्य की प्रशासनिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों की प्रचुर जानकारी मिलती है।[2]

(iii) दयालदास की ख्यात (Dayaldas Khyat)—डा गुप्ता व डा ओझा के अनुसार—"जोधपुर के प्रारम्भिक इतिहास के लिए यह ख्यात बड़ी महत्त्वपूर्ण है। महाराजा रतनसिंह के आदेश से दयालदास ने बीकानेर राज की सबसे पहले क्रमवार सिढायत लिखी थी जिसमें रावबीकादास से लेकर महाराजा सरदारसिंह के राज्यारोहण तक का विस्तृत इतिहास दिया है।'[3] डा गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में— ख्यातों में जो स्थान नैणसी री ख्यात और बांकीदास री वातां का प्राप्त है वही स्थान दयालदास की ख्यात का भी है। दयालदास बीकानेर की सिढायच शाखा के चारण थे। वे बीकानेर नरेश महाराजा रतनसिंह सरदारसिंह और डूंगरसिंह के विश्वास पात्र थे। इन्होंने अनेक वंशावलियों, पट्टों, परवानों और बहियों तथा शाही फरमानों और राजकीय दफ्तर और पत्रों को अपनी ख्यात तैयार करने में काम में लिया था। दयालदास ने ऐतिहासिक महत्त्व का ध्यान में रखते हुए अपनी ख्यातों में बोलचाल की भाषा को साहित्यिक भाषा की तुलना में अधिक प्रधानता दी है जो तत्कालीन लोक भाषा की जानकारी के लिए बड़ी उपयोगी है।'[4]

उपरोक्त ख्यातों के अतिरिक्त अन्य ख्यातों में 'बांकीदास री ख्यात', 'जोधपुर राठौरां री ख्यात', 'मंडता री ख्यात', 'किशनगढ़ री ख्यात', 'उदयपुर री ख्यात', 'भाटियां री ख्यात' आदि महत्त्वपूर्ण हैं।

(iv) उर्दू व फारसी साहित्य (Urdu & Persian Literature)—डा गुप्ता व डॉ ओझा का यह कथन उपयुक्त है कि— मुस्लिम राज्य स्थापित होने के साथ ही इतिहास-लेखन में भी नयापन आया और मुस्लिम शासकों के दरबार

1-2 डॉ मनोहरसिंह राणावत : इतिहासकार मुहणोत नैणसी और उसके इतिहास ग्रन्थ प्रस्तावना, पृ VI

3 डॉ के एस गुप्ता व डॉ जे के ओझा : राजस्थान का इतिहास : एक सर्वेक्षण, पृ 304

4 पूर्वोद्धृत, पृ 185

मे रह रहे इतिहास लेखको ने फारसी मे तवारीखें लिखी। मुगलकाल मे यह प्रक्रिया और अधिक बढी। कुछ बादशाहो द्वारा लिखी आत्मकथाओ मे तथा कुछ की जीवनियो मे भी राजस्थान के इतिहास से सम्बन्धित सामग्री मिलती है।[1] डा वी एस भार्गव के अनुसार—"फारसी भाषा मे लिपिबद्ध पुरालेख साधन फरमान मन्सूर रुक्का निशान हस्बुल, ईशा और रुबैयात तथा वकील रिपोर्ट के रूप मे मिलते हैं। फरमान मन्सूर व रुक्के सम्राट के द्वारा जारी किए जाते थे। ये शाही वंश के लोगों के नाम सम्राट के अधीन मनसबदारो के नाम विदेशी शासको के नाम जारी होते थे। उन पर सम्राट की मुहर होती थी और सम्राट के दायें हाथ का पंजा अथवा सम्राट के स्वयं के द्वारा लिखी गई पंक्तियाँ भी होती थी।[2] बाद मे उर्दू भाषा मे लिपिबद्ध ऐतिहासिक सामग्री भी उपलब्ध हुई है जिसमे राजपूत राजघरानो की 'बहियाँ' (जैसे हकीकत बही हुकूमत बही व खरीता बही) पट्टे परवाने पत्र व्यवहार की नकलें आदि प्रमुख हैं। ये उर्दू व फारसी के साहित्य की मूल प्रतियाँ या उनकी नकल प्रतियाँ राजकीय व देशी राज्यो के संग्रहो मे उपलब्ध हैं। राजकीय पुरालेखागारो (Archives) मे इस प्रकार का प्रचुर साहित्य उपलब्ध है। फारसी ग्रंथो मे निम्नांकित विशेष उल्लेखनीय हैं जिनसे मध्यकालीन राजस्थान के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पडता है—

तुजुके बाबरी, हसन निजामी कृत ताज उल म आसिर, मिनहाज उस सिराज कृत तबकात ए नासिरी, खुसरो कृत तारीख अलाई व खजायनुलफुतूह, जियाउद्दीन बरनी कृत तारीख ए फीरोजशाही, अफीफ रचित तारीख ए मुबारक शाही, तुजुक ए जहाँगीर, गुलबदन बेगम कृत हुमायूँ नामा, अब्बास खाँ सरवानी की 'तारीख ए शेरशाही', अबुल फजल कृत आइन ए अकबरी व अकबरनामा, मुहम्मद काजिम का आलमगीरनामा आदि। डा गुप्ता व डा आभा के शब्दो मे— राजस्थान के इतिहास को जानने के लिए ये फारसी ग्रंथ निश्चित ही बडे उपादेय हैं। इनमे क्रमबद्ध वर्णन के साथ साथ तिथियो का सही उल्लेख भी मिलता है।[3] डी एस दिवाकर के अनुसार— मुगलकाल मे हर बादशाह के दरबार मे इतिहासकार रहते थे जिनके मूल ग्रंथो मे मुगलकाल के इतिहास के साथ साथ उनका राजस्थान से संघर्ष व सम्बन्धो पर प्रकाश पडता है।[4]

(v) जैन साहित्य (Jain Literature)—दिवाकर ने जैन साहित्य के ऐतिहासिक महत्त्व को प्रकट करते हुए कहा है कि— जैन साधुओ द्वारा लिखी पट्टावली भी इतिहास ग्रंथ है जिसमे देश के बडे-बडे शासको और राजवंशो का वर्णन मिलता है। जैन धर्म के साहित्य का अध्ययन करने से राजस्थान के लोगो का रहन सहन रीति रिवाज आदि का भी पता चलता है।[5] डा वी एस भार्गव का

1 पूर्वोद्धत p 304
2 p 25 26
3 डॉ गुप्ता व डॉ आभा राजस्थान का इतिहास एक सर्वेक्षण p 305
4-5 डी एस दिवाकर राजस्थान का इतिहास p 23 व 18

भी मत है कि— 'राजस्थान की भौगोलिक सीमाओं के भीतर अनेक स्थानों पर जन भण्डारों में जो साहित्य संग्रहीत है वह इस प्रदेश की ऐतिहासिक जानकारी का महत्त्वपूर्ण स्रोत है। ये जन भण्डार जैसलमेर, बीकानेर, सादडी आदि स्थान पर हैं। इस साहित्य से मध्यकालीन राजस्थान के धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है।'[1]

जैन साहित्य के निम्नांकित ग्रंथ मध्यकालीन राजस्थान के लिए महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं—

कक्कड सूरी का 'नाभीनन्दन जिनोद्धार प्रबंध', नयचन्द्रसूरी कृत 'हम्मीर महाकाव्य', सोम सूरी कृत 'सोम सौभाग्य महाकाव्य', समय सुन्दर कृत 'शिम्हल सूत्र', हेमरत्न कृत 'गोरा बादल', उपाध्याय लब्धोदय कृत 'पद्मिनी चरित्र चौपाई', दौलत विजय रचित 'खुमान रासो' आदि। इन ग्रंथों का ऐतिहासिक महत्त्व अध्ययन काल के विभिन्न प्रकरणों में यथास्थान उल्लेख किया गया है।

(ख) राजस्थान के आधुनिक ऐतिहासिक ग्रंथ (Modern Historical Literature of Rajasthan)—मध्यकालीन अध्ययन काल से सम्बद्ध राजस्थान के इतिहास के अनेक ग्रंथ व शोध कार्य आधुनिक काल में प्रकाश में आये हैं। इनमें निम्नांकित ग्रंथ विशेष उल्लेखनीय हैं—

(1) कर्नल जेम्स टाड का 'एनाल्स एण्ड एण्टीक्विटीज ऑफ राजस्थान' (Col James Todd's Annals and Antiquities of Rajasthan)—टाड ब्रिटिश इंडिया कम्पनी की सेवा में सैनिक अधिकारी थे। 1817 से 1822 तक उन्होंने पश्चिमी राजस्थान में Political Agent का कार्य किया। उन्होंने अपने इस ग्रंथ के प्रथम व द्वितीय भाग को 1829 व 1832 में तथा दूसरे ग्रंथ 'पश्चिमी राजस्थान की यात्रा' (Travels in Western Rajasthan) को 1839 में प्रकाशित कराया। एनाल्स ग्रंथ के प्रथम भाग में राजस्थान का भौगोलिक विवरण, राजपूतों की वंशावली, सामन्ती व्यवस्था तथा मेवाड़ राज्य का इतिहास दिया गया है और दूसरे भाग में मारवाड़, बीकानेर, जैसलमेर, आमेर व हाड़ौती राज्यों का विवरण लिखा है। 'पश्चिमी राजस्थान की यात्रा' ग्रंथ में टाड ने अपने यात्रा विवरण में राजपूत समाज तथा आहलवाडा, अहमदाबाद व बड़ौदा राज्यों के इतिहास का भी वर्णन किया है।

टाड का राजस्थान से इतना स्नेह था और वह यहाँ के शौर्य एवं त्याग से इतना प्रभावित था कि उसने लिखा है कि— 'राजस्थान में कोई भी छोटा राज्य ऐसा नहीं है जिसमें थर्मोपाली जैसी रणभूमि न हो और कदाचित् ही कोई ऐसा नगर हो जहाँ लियोनीडास जैसा वीर पुरुष उत्पन्न न हुआ हो।'[1] टाड ने चारण भाटों की ख्यातों, दन्त-कथाओं व वंशावलियों के आधार पर अपने गुरु जैन यति ज्ञानचन्द की सहायता से अपने ग्रंथों की रचना की जिसमें राजपूत वीरों की कीर्ति जो पहले भारत में सीमाबद्ध थी, सारे भूमण्डल में फैल गई। परन्तु शिलालेख,

ताम्रपत्र, सिक्के आदि ठीक ठीक न पढ़ने से और मूता नैणसी की ख्यात जैसे उपयोगी ग्रन्थ के अप्राप्त होने से ग्रन्थ में कई अशुद्धियाँ रह गई[1]।

डा. गोपीनाथ शर्मा ने भी 'एनाल्स' ग्रन्थ की आलोचना करते हुए लिखा है कि— इस पुस्तक से स्पष्ट है कि टाड का राजस्थान के इतिहास में कितना प्रेम था। कई राजवंशों के विवेचन के लिए, कई स्थानों के वर्णन के लिए तथा कई संस्थाओं और परम्पराओं के वर्णन टाड कृत राजस्थान अनेक ऐतिहासिक पहलुओं पर प्रकाश डालता है। परन्तु भाटों की पुस्तकों, ख्यातों और वंशावलियों पर आधारित होने के कारण इसमें कई स्थल दोषपूर्ण हैं।[2] डा. वी. एस. भार्गव के अनुसार इस ग्रन्थ में निम्नांकित कमियाँ हैं—[3]

(1) टाड का सम्बन्ध केवल राजपरिवारों से ही रहा अतः उसका विवरण पूर्वाग्रहों से प्रेरित है।

(2) टाड संस्कृत, प्राकृत, अरबी या फारसी भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण वह इन भाषाओं की स्रोत सामग्री का उपयोग ग्रन्थ लोगों के आधार पर ही कर सका।

(3) मध्यकालीन राजस्थान का विवरण मुगलों से संघर्ष का वर्णन करने के कारण साम्प्रदायिक तनाव की वृद्धि में सहायक हुआ।

(4) टाड ने जनसाधारण का वर्णन न कर सामन्तशाही समाज का वर्णन किया व उसकी तुलना यूरोपीय सामन्तवाद से कर भ्रान्तियाँ उत्पन्न की।

(5) टाड ने कुछ घटनाओं के क्रम व उनकी शुद्ध तिथियों के उल्लेख में त्रुटियाँ की हैं।

उपरोक्त कमियों का निराकरण नवीन ऐतिहासिक शोधों के आधार पर किया जा रहा है। फिर भी टाड के ग्रन्थ को इतिहासकार आदि स्रोत ग्रन्थ के रूप में महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

(2) **वीर विनोद** (*Vir Vinod*)— वीर विनोद के रचयिता कविराज श्यामलदास ने उदयपुर के महाराणा शम्भूसिंह की प्रेरणा से तथा बाद में महाराणा के उत्तराधिकारियों *महाराणा सज्जनसिंह व महाराणा फतहसिंह* के समय इस ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ 1892 ई. में कई भागों व 3000 पृष्ठों में प्रकाशित हुआ जिस पर लगभग एक लाख रुपया खर्च हुआ। जगदीश गहलोत के अनुसार— इसमें उदयपुर राज्य का इतिहास बहुत विस्तार से शिलालेखों आदि से लिखा गया और राजपूताना तथा बाहर के अन्य राज्यों का जिनका किसी प्रकार उदयपुर से सम्बन्ध रहा उनका संक्षिप्त इतिहास ख्यातों आदि से दिया गया है।[1] महाराणा

1 जगदीशसिंह गहलोत : ऐतिहासिक निबन्ध माला p. 81
2 डॉ. गोपीनाथ शर्मा : ऐतिहासिक निबन्ध राजस्थान p. 199
3 पूर्वोद्धृत p. 32-33
4 पूर्वोद्धृत p. 83

फतहसिंह ने इस ग्रंथ पर प्रतिबंध लगा दिया और मौलवी अब्दुलकरीम द्वारा रचित तोहफ राजस्थान नाम से दूसरा इतिहास ग्रंथ प्रकाशित कराया।

इस ग्रंथ पर प्रतिबंध लगाने के पूर्व जो प्रतियाँ बिक चुकी थी उनके आधार पर इस ग्रंथ की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। डा बेनी गुप्ता के शब्दों में— विद्वद्वर महामहोपाध्याय श्री श्यामलदास की अमर रचना वीर विनोद में कौन अपरिचित होगा। राजस्थान के प्रामाणिक इतिहास लेखन का यह प्रथम प्रयास कहा जा सकता है। मेवाड राज्य का समस्त सरकारी रेकार्ड राजस्थान के अन्य राज्यों के समस्त लिखित ग्रंथों अथवा संग्रहीत इतिहास तथा शिलालेखों के संग्रह तथा अन्य साधन एवं स्रोत उन्हें प्राप्त थे। भारत के तत्कालीन इतिहास का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। परिणामस्वरूप एक विशाल ग्रंथ की रचना हो गई।[1] डा. गोपीनाथ शर्मा का मत है कि— इस ग्रंथ में उदयपुर राज्य का इतिहास विस्तार से और भारतीय तथा अन्य राजस्थानीय राज्यों का इतिहास संक्षेप में दिया गया है। लेखक ने शिलालेखों फर्मानों ख्यातों फारसी तवारीखों के आधार से ग्रंथ की उपयोगिता बढा दी है। डा वी एस भार्गव का यह कथन उपयुक्त है कि— जिस प्रकार अकबर महान् के शासन काल में अबुल फजल ने ऐतिहासिक सामग्री का संग्रह किया था ठीक उसी स्तर पर कविराजा ने ऐतिहासिक सामग्री का चयन करके वीर विनोद की रचना की। डा गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने भी इस ग्रंथ की सहायता 'राजपूताना का इतिहास' लिखने में ली है।

आधुनिक काल में मध्यकालीन राजस्थान से संबद्ध अन्य ऐतिहासिक ग्रंथों एवं शोध कार्यों में निम्नांकित प्रमुख हैं—

(1) मुंशी देवीप्रसादकृत राजस्थान के महापुरुषों की जीवनियाँ' (1939)
(2) रामनाथ रत्नू कृत इतिहास राजस्थान (1894)
(3) गौरीशंकर हीराचंद ओझा रचित राजपूताने का इतिहास (1925),
(4) रामनारायण दूगड कृत राजस्थान रत्नाकर' (1909),
(5) मुंशी ज्वाला सहाय कृत वकाये राजपूताना (1878)
(6) डा मथुरालाल शर्मा रचित कोटा व जयपुर के इतिहास,
(7) डॉ गोपीनाथ शर्मा कृत Mewar & the Mugal Emperors,
(8) डा दशरथ शर्मा रचित Early Chauhan Dynasties
(9) डा के आर कानूनगो कृत Studies in Rajput History
(10) डॉ वी एस भार्गव कृत Maratha & the Mugal Emperors
(11) डॉ आर एन प्रसाद रचित Raja Man Singh of Amber
(12) डा वी एस भटनागर कृत Sawai Jai Singh

उपरोक्त ग्रंथों के अतिरिक्त राजस्थान के मध्यकालीन इतिहास से संबद्ध अनेक शोध ग्रंथ भी प्रकाश में आये हैं जिनसे हमारे अध्ययन काल का वैज्ञानिक अध्ययन हुआ है।

---

1 डॉ मथुरालाल शर्मा एवं डॉ बेनी गुप्ता (सं) वीर विनोद भूमिका
2 पूर्वोक्त पृ 196

2 तेरहवीं शताब्दी में राजस्थान— तुर्की आक्रमणों का प्रतिरोध

(Rajasthan During the 13th Century— Resistance to Turkish Invasions)

तेरहवीं शताब्दी के पूर्व बाह्य आक्रमण

तेरहवी शताब्दी म राजस्थान पर तुर्की आक्रमणो क प्रतिरोध क पूव की स्थिति का वणन करते हुए डॉ गोपीनाथ शमा का कथन है कि— इस युग (8वी से 12वी शताब्दी) म तथा इसक बाद उह (राजपूता को) बाहरी आक्रमणा का भी मुकाबला करना पडा जो स्थानीय पारस्परिक युद्धा स अधिक भयानक था। आठवी शताब्दी क प्रारम्भ म ही जबकि कुछ राजपूत वश अपनी स्थिति पूरी तौर स जमाने भी न पाए थे कि अरबा का आक्रमण भारतवष क पश्चिमी भागा पर हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि सिध और आस पास के भागा पर उनका अधिकार स्थापित हो गया। धीरे धीरे इनकी शक्ति बढती गई जिसम मालवा मारवाड तथा भडौच आदि स्थान उनके भय से खाली नहा समझ जान लग। अरब आक्रमण का राजस्थान के राजनीतिक जीवन म बडा प्रभाव पडा। भीनमाल का चाप वश और चित्तौड का मौय वश तो अवश्य अरब आक्रमण म जजरित हो गए परतु साथ ही राजस्थान म गुर्जर चौहान परमार और प्रतिहार इतन शक्ति सम्पन्न हो गए कि अरब शक्ति राजस्थान के राजनीतिक जीवन के स तुलन को न बिगाड सकी और ये वश उत्तरोत्तर प्रबल होत रहे। लगभग तीन शताब्दी तक राजस्थान क कुछ भागो को विदेशी आक्रमण का कोई भय नही रहा।

परतु ग्यारहवी शताब्दी के प्रारम्भ स ही उत्तर भारतीय राजनीतिक जीवन म एक नया मोड आया। उत्तर पश्चिम स आन वाली बबर तुर्की जाति अपने विध्वसकारी अभियाना से युग युगान्तर के सांस्कृतिक जीवन को समाप्त करने पर उतारू हो गयी। इस जाति का नेतृत्व महमूद गजनवी न किया।[1]

1 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास, पृ 151–52

महमूद गजनवी न भारत पर अनक आक्रमण किए । ये आक्रमण 1000 ई स 1027 इ तक प्राय प्रतिवप ही होत रहत थ । महमूद के आक्रमणा का प्रतिराध यदि राजस्थान के राजपूत वश मिलकर करत तो उनसे सुरक्षा हो सकती थी कि तु ये राज्यवश अपनी स्वाथ पूर्ति म लग रह । धनलोलुप महमूद न 1026 ई म गुजरात क सामनाथ मदिर को लूटन हेतु जो आक्रमण किया उसका माग लोद्रवा (जसलमर) होकर था तथा जान का माग कच्छ और सिध होकर था । इसम मुस्लिम आक्रा ताओ का राजस्थान पर आक्रमण करने का माग मिल गया जिसका उपयाग महमूद के उत्तर पश्चिमी भारतीय सीमा त के विजित प्रदेशो क अधिकारियो न किया ।[1] 1079 म सुलतान इब्राहीम न भारत क पश्चिमी समुद्र तट पर अधिकार कर शाकम्भरी के चौहान नरश दुलभराज की हत्या कर दी और नाडोल के शासक पृथ्वीपाल पर तुर्कों न आक्रमण किया ।[2] फिर तुक शासक मामूद तृतीय न मालानी (बाडमर प्रदेश) पर अधिकार कर लिया । चौहान शासक अर्णोराज न अजमेर के निकट इन तुर्की आक्रमणो का तथा खुसरा मलिक का चौहान नरेश विग्रहराज चतुथ न परास्त किया ।

डा गापीनाथ शमा न इस समय की स्थिति का वणन करत हुए कहा है कि 'इन प्रारम्भिक तुर्कों क आक्रमण म यह स्पष्ट है कि राजपूत शक्ति का उस समय तक एक शोय का स्तर था जिसक कारण गजनवी वश के आक्रमण स राजस्थान को काई हानि न उठानी पडी । परन्तु साथ ही साथ इस बात की भी उपक्षा नही की जा सकती कि राजस्थानी नरशो न चौहानो के साथ एक होकर इस शक्ति को नष्ट करन का कोई प्रयत्न नही किया । व अपन अपन वश की प्रभुता बढान की होड म लग रह और अपने पारम्परिक वमनस्य का भी अ त न कर सके । ऐसी अवस्था म यदि गजनी शक्ति का उत्तरी पश्चिमी सीमा म पनपने न दिया जाता तो गौरी आक्रमण की सम्भावना न होन पाती । परन्तु पिछले गजनवियो का अस्तित्व तथा गौरी वश की शक्ति चौहानो तथा भारतीय स्वतन्त्रता के लिए घातक सिद्ध हुई । यहाँ स आरम्भ होने वाला सघष सदियो का एक क्रमिक घटना चक्र बन गया ।'[3] गौरी वश के शासका न गजना पर भी अधिकार कर लिया । गजनी के गवनर शहाबुद्दीन गौरी न 1173 म भाटी राजपूता स डच का प्रदश जीत लिया । चौहान नरेश पृथ्वीराज तृतीय क समय चौहान व तुर्की साम्राज्य की सीमाएँ मिली हुई थी । ऐसी स्थिति म चौहान तुक अथात् पृथ्वीराज चौहान तथा मुहम्मद गौरा का सघष अवश्यम्भावी हो गया था ।

डॉ बी एस भागव का कथन है कि—'भारत पर मुहम्मद गौरी के आक्रमणा का ताता 1175 ई स शुरू हुआ और 1205–6 तक चलता रहा । उत्तर भारत के प्रतापी राजपूत नरेश पृथ्वीराज चौहान न 1191 म दिल्ली से

1 *D Dashrath Sharma* Rajasthan through the Ages p 253
2 *Dr Dashrath Sharma* Early Chauhan Dynasties p 36
3 डा गापीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास, p 153 व 167

80 मील दूर तराइन का प्रथम युद्ध हुआ जिसमें चौहान राजा ने गौरी पर भयंकर मार मारी। अगले ही वर्ष 1192 में गौरी ने एक विशाल सेना के साथ पुनः आक्रमण किया और तराइन के इस दूसरे युद्ध में राजपूतों की दुर्भाग्यपूर्ण पराजय हुई और पृथ्वीराज को बंदी बनाकर मौत के घाट उतार दिया गया। तुर्क आक्रांता *मोहम्मद गौरी ने आगे बढ़कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया।*'[1]

तेरहवीं शताब्दी में राजस्थान—तुर्की आक्रमणों का प्रतिरोध
(Rajasthan during 13th Century–Resistance of Turkish Invasions)

डा. गुप्ता व डा. आभा ने तराइन के दूसरे युद्ध के बाद की राजस्थान की राजनीतिक दशा का वर्णन करते हुए कहा है कि— तराइन के दूसरे युद्ध के बाद राजस्थान की शक्ति विकेन्द्रित हो गई। पृथ्वीराज चौहान के विशाल राज्य का एक छोटा सा भाग उसके पुत्र गोविन्दराज को दिल्ली के सुल्तान कुतुबुद्दीन ऐबक ने रणथम्भौर के रूप में प्रदान किया। जालौर में चौहानों की अन्य शाखा सोनगरा बागड़ तथा आबू व चन्द्रावती में परमार वंश जैसलमेर में भाटी मेवाड़ में गुहिल वंश आदि जो कि तराइन युद्ध के पूर्व पृथ्वीराज तृतीय के सामन्त शासक के रूप में शासन करते थे आमेर के कछवाहों के अनुरूप स्वतन्त्र शासक बन गए। डा. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार— द्वितीय तराइन के युद्ध से भारतीय राजनीति में एक नया मोड़ आया। पर तुर्कों का यह अर्थ नहीं था कि तराइन के बाद चौहानों की शक्ति समाप्त हो गई। लगभग एक शताब्दी तक चौहानों की शाखाएं जो रणथम्भौर जालौर, नाडोल तथा चन्द्रावती और आबू में शासन कर रही थीं राजपूत शक्ति की धुरी बनी रहीं। इन्होंने (तुर्क) सुल्तानों की सत्ता का समय समय पर मुकाबला कर अपने शौर्य और अदम्य साहस का परिचय दिया।[2] मुहम्मद गौरी ने अपने भारतीय विजित प्रदेशों पर शासन का प्रतिनिधि अपने गुलाम कुतुबुद्दीन ऐबक को बनाया था जिसने भारत में प्रथम मुस्लिम राज्य की गुलाम वंश के नाम से स्थापना की जो 1206 से 1295 तक सत्तारूढ़ रहा और उसके बाद 1296 से 1316 तक अन्य तुर्क–शासकों के खिलजी वंश ने शासन किया। अतः तेरहवीं शताब्दी में दिल्ली का तुर्क राज्यवंश—गुलाम व खिलजी के शासकों का राजस्थान में आक्रमणों एवं राजपूतों द्वारा उसके प्रतिरोध का विवेचन इस अध्याय में किया जा रहा है।

(अ) रणथम्भौर दुर्ग पर अलाउद्दीन खिलजी की विजय तथा हम्मीर द्वारा प्रतिरोध
(Allauddin Khilji's Conquest of Ranthambhor Fort and Resistance by Hammir)

पृष्ठभूमि—तराइन के द्वितीय युद्ध (1192) के पश्चात् गुलाम वंश के संस्थापक कुतुबुद्दीन ऐबक ने पृथ्वीराज के पुत्र गोविन्दराज को रणथम्भौर का राजा

1 डॉ. वी. एस. भार्गव राजस्थान का इतिहास p. 92-93
2 डॉ. के. एस. गुप्ता व डॉ. जे. के. ओझा राजस्थान का इतिहास एक सर्वेक्षण p. 174

बनाया किन्तु अजमेर, हाँसी तथा नागौर में सैनिक छावनियाँ स्थापित कर दी थीं। गोविन्दराज के उत्तराधिकारी क्रमशः वाल्हण, प्रह्लादन व वीरनारायण थे। वीरनारायण को पराजित एवं मार कर दूसरे गुलाम वंशी शासक इल्तुतमिश ने 1226 में रणथम्भौर दुर्ग पर अधिकार कर लिया किन्तु रजिया सुल्ताना के समय रणथम्भौर के शासक ने पुनः स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली। सुल्तान नासिरुद्दीन (1246-1265 ई.) के समय उसके सेनापति बलबन के रणथम्भौर आक्रमण को वहाँ के चौहान शासक वाग्भट्ट ने विफल कर दिया। खिलजी वंश की स्थापना से पूर्व वाग्भट्ट के पुत्र जैत्रसिंह ने नासिरुद्दीन के आक्रमण को विफल किया किन्तु वह कर देने पर विवश हुआ। खिलजी वंश के शासकों से जैत्रसिंह के पुत्र हम्मीर ने वीरता पूर्वक युद्ध किया जिसका विवरण इस प्रकार है—

हम्मीर चौहान—नयनचन्द्र सूरि कृत 'हम्मीर महाकाव्य' के आधार पर डा. गोपीनाथ शर्मा का मत है कि—"हम्मीर देव जैत्रसिंह का तीसरा पुत्र था। सम्भवतः सभी पुत्रों में योग्यतम होने के कारण उसके पिता ने उसका राज्यारोहण उत्सव 1282 ई. में अपने जीवन-काल में ही सम्पन्न कर दिया था। शासन का भार सम्भालते ही उसने 1288 ई. तक दिग्विजय को सम्पादित कर बड़ी ख्याति प्राप्त की और रणथम्भौर की सीमा को बढ़ाया।"[1] जैत्रसिंह के तीन पुत्र थे। सूरतचन्द्र, विरमा और हम्मीर। डा. दशरथ शर्मा का भी यही मत है— सबसे छोटा होते हुए भी हम्मीर को ही शासन-भार सौंपा गया क्योंकि वह सबसे योग्य था। उसकी माता का नाम हीरादेवी था। वह अपने पिता की मृत्यु के बाद 1282 ई. में गद्दी पर बैठा था। अपने अन्तिम समय में जैत्रसिंह चम्बल नदी पर स्थित पाटन तीर्थ गया था।[2] प्रबन्ध कोष ग्रन्थ से हम्मीर के राज्याभिषेक की यह तिथि पुष्ट होती है।

हम्मीर की दिग्विजय—हम्मीर के शासनकाल की घटनाओं के निम्नांकित ऐतिहासिक स्रोत ग्रन्थ हैं—

(1) नयचन्द्र सूरि कृत 'हम्मीर महाकाव्य'।

(2) चन्द्रशेखर कृत 'हम्मीर हठ'।

(3) बलवन का शिलालेख।

(4) जोधराज रचित 'हम्मीर रासो'।

(5) जियाउद्दीन बरनी कृत 'तारीखे-फीरोजशाही' व 'फतवाए जहांदारी'।

(6) अमीर खुसरो की रचनाएँ।

(7) आधुनिक इतिहासकारों में डॉ. दशरथ शर्मा, गौरीशंकर ओझा तथा डा. गोपीनाथ शर्मा के ग्रन्थ।

उपरोक्त ग्रन्थों के आधार पर हम्मीर की दिग्विजय का पता चलता है। वी. एस. भिवारकर के शब्दों में— हम्मीर ने सबसे पहले भीमरस के शासक अर्जुन को पराजित किया। बलवन शिलालेख में अर्जुन को मालवा का शासक बताया

1 पूर्वोक्त, p. 170 तथा हम्मीर महाकाव्य, सर्ग 4, श्लोक 159

2 डा. दशरथ शर्मा : प्रारम्भिक चौहान वंश

गया है जो हम्मीर के पिता जयसिंह के समकालीन जयसिंह का उत्तराधिकारी था। इसी शिलालेख में यह भी वर्णन मिलता है कि हम्मीर ने मालवा के शासक अर्जुन की हस्तिसेना पर पूर्ण अधिकार कर लिया था। मालवा जीतने के बाद हम्मीर ने मांडलगढ़ को जीता और वहाँ के राजा से बहुत सा भेंट आदि वसूल की। मांडलगढ़ की विजय को अलग अलग इतिहासकारों ने अलग अलग नाम से पुकारा है। हरविलास शारदा ने इसे मांडलगढ़ कहा है तो कुछ प्राचीन ग्रंथ इसे मांडिल-कूट कहते हैं। डा दशरथ शर्मा और ओझाजी इसे मांडलगढ़ कहते हैं। जो भी हो हम्मीर की दूसरी विजय मांडलगढ़ थी। उसके बाद उसने अश्वमेध यज्ञ कर अपनी दक्षिण विजय का अभियान शुरू किया। इसमें उसने राजा भोज जो परमार वंश का था पराजित कर उज्जैन और धार को अपने अधीन किया। उत्तर की तरफ लौटते हुए उसने दस स्थानों को विजय कर अपने अधीन किया। हम्मीर ने एक ही दौर में चित्तौड़ आबू वर्धनपुर चंगा, पुष्कर मरोठ खंडवा चम्पा व कोंकरिला को जीतकर अपने अधीन कर लिया। उसकी अंतिम विजय करौली की थी। हम्मीर ने अपना यह विजय अभियान 1288 ई में शुरू किया था। इन सब विजयों के अतिरिक्त नयचन्द्र सूरि ने हम्मीर महाकाव्य में एक और परमार राजा का वर्णन किया है जिसे हम्मीर ने धार नामक स्थान पर पराजित किया था।[1] डा गुप्ता व डा ओझा के अनुसार—'इस सब में उसने दोहरी नीति अपनाते हुए कई राज्यों को जीत कर अपने साम्राज्य का अंग बनाया तो कई राज्यों से केवल कर ही लिया।'[2] इस विजय ने राजस्थान में रणथम्भोर के चौहानों की पद प्रतिष्ठा को प्रतिष्ठापित कर दिया। परन्तु यह स्थिति अधिक समय तक न रह सकी।

हम्मीर के तुर्कों के विरुद्ध प्रतिरक्षात्मक युद्ध—उपरोक्त दिग्विजय के अतिरिक्त हम्मीर ने तुर्की सुल्तानों के विरुद्ध निम्नांकित प्रतिरक्षात्मक युद्ध किए—

(1) जलालुद्दीन खिलजी का आक्रमण (1290–91 ई)—बलबन की मृत्यु के बाद जलालुद्दीन खिलजी के सुल्तान बनने की अवधि 1287 से 1290 ई तक दिल्ली में व्याप्त अराजकता की स्थिति में हम्मीर ने अपनी शक्ति बढ़ा ली थी किन्तु जलालुद्दीन ने सुल्तान बनते ही 1290 ई में हम्मीर की राज्य सीमा में स्थित झाँई (जाहिन) के दुर्ग को जीत कर वहाँ के नगर को नष्ट कर स्वर्ग से नरक बना दिया। झाँई के दुर्ग की रक्षा में युद्ध करते हुए हम्मीर का सेनापति गुरदत्त सैनी मारा गया। इसके बाद जलालुद्दीन रणथम्भोर के निकट पहुँचा किन्तु हम्मीर की सहायतार्थ आये अनेक पडौसी नरेशों की सेना को देखकर जलालुद्दीन घबरा गया और उसने दिल्ली लौटने का निश्चय किया। उसके सेनापतियों के यह समझाने पर भी कि इससे उसका सम्मान कम हो जायगा उसने कहा कि—'ऐसे दस किलों को भी मुसलमान के बाल के बराबर नहीं समझता।' उसने दुर्ग का घेरा उठा लिया और 2 जून 1291 को वह दिल्ली लौट आया। इस प्रकार हम्मीर तुर्कों के

1 बी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास p 76-77
2 पर्वोक्त p 19

विरुद्ध इस प्रतिरक्षात्मक युद्ध में सफल रहा और उसने झाँइन दुर्ग पर पुनः अधिकार कर लिया।[1]

(ii) अलाउद्दीन खिलजी का आक्रमण (1299-1301 ई.)—अलाउद्दीन खिलजी के विरुद्ध प्रतिरक्षात्मक युद्ध करने में हम्मीर ने अनुपम वीरता व शौर्य का प्रदर्शन किया किन्तु वह पराजित हुआ और रणथम्भौर दुर्ग पर तुर्कों का अधिकार हो गया। इस प्रकार हम्मीर ने 17 युद्ध किए जिनमें से 16 में उसे विजय प्राप्त हुई तथा अंतिम युद्ध में वह पराजित हुआ। इस आक्रमण का विस्तृत विवरण इस प्रकार है—

रणथम्भौर दुर्ग पर अलाउद्दीन खिलजी की विजय
(Alauddin Khilji's Invasion on Ranthambhor Fort)

आक्रमण के कारण

उपलब्ध स्रोतों के आधार पर इतिहासकारों ने रणथम्भौर दुर्ग पर अलाउद्दीन खिलजी के आक्रमण के निम्नांकित कारण बतलाए हैं—

(1) रणथम्भौर दुर्ग का सैनिक महत्त्व—डॉ. दशरथ शर्मा के अनुसार, वह अलाउद्दीन यह भली भाँति जानता था कि यदि वह मालवा और गुजरात को अपने राज्य के अन्तर्गत सम्मिलित करना है और ... अभियान को एक स्थायी घटना बनाना है तो उस राजस्थान के दुर्गों पर ... अधिकार में करना होगा। इसी नीति के तत्त्वावधान में सुल्तान ने रणथम्भौर विजय को अपनी उत्तरी भारत विजय का अंग बनाया।[2] यह दुर्ग दिल्ली से दूर भी नहीं था तथा सैनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था।

(2) जलालुद्दीन की असफलता का बदला लेना—डॉ. वी. एस. भार्गव का मत है कि—"जलालुद्दीन खिलजी इस किले पर अधिकार करने में असफल रहा था। यह असफलता खिलजी साम्राज्य के ... पर ... धब्बा सदृश थी।"[3]

(3) शक्ति परीक्षा करना—डॉ. ... के ... में—वास्तव में रणथम्भौर पहली रियासत थी जिसे राजपूतों के ... शक्ति आजमाने के लिए चुना गया था।[4] वस्तुतः यह दुर्ग मुस्लिम ... और ... का ... मुस्लिम शासकों के लिए एक चुनौती था। अतः अलाउद्दीन अपनी ... शक्ति की परीक्षा इसे विजित करने से करना चाहता था।

(4) विद्रोही मंगोल मुहम्मदशाह को शरण देना—डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव

1 तारीख ए फिरोजशाही (इलियट डाउसन), भाग-3, पृ. 148
  व अमीर खुसरो : खजाइनुल फुतूह (अनु.), भाग-3
2 डॉ. दशरथ शर्मा : राजस्थान का इतिहास, पृ. 540-42
3 पूर्वोद्धृत, पृ. 78 व 97
4 डॉ. के. एस. लाल : खिलजी वंश का इतिहास

के अनुसार— 'हम्मीर देव ने कुछ विद्रोही नये मुसलमानों को अपने यहाँ शरण दी थी। उसके इस दुस्साहस के लिये उसे दण्ड देना अलाउद्दीन अभिवांछनीय समझता था।'[1] ये मंगोल विद्रोही मुहम्मदशाह के नेतृत्व में जालौर में उलुग खाँ और नुसरत खाँ के खीमे से भाग कर हम्मीर की शरण में आ गये थे। उलुग खाँ ने उनसे गुजरात विजय से लायी गई लूट का 1/5 भाग माँगा था जिसको देने में मंगोलों ने आनाकानी की थी। जब ये विद्रोही हम्मीर के दरबार में चले गए तो सुल्तान ने उसे अपने विद्रोहियों को लौटा देने को लिखा। हम्मीर ने इनको लौटा देना अपनी शान और वंश मर्यादा के विरुद्ध समझा और युद्ध के लिए तैयार हो गया।[2] अन्य स्रोतों के आधार पर डा. बी. एस. भार्गव का कथन है कि— "इस बात की पुष्टि ईसामी के वर्णन से भी होती है। चन्द्रशेखर के हिन्दी पद्य हम्मीर हठ से जाहिर होता है कि सुल्तान की मराठा बेगम जिसका नाम जोधराज था हम्मीर रासो में चिमना बेगम बताया है चिमना मीर मुहम्मदशाह से प्रेम करती थी। बेगम ने सेनापति से मिलकर सुल्तान के विरुद्ध जालसाजी की और जब सुल्तान को इस सम्बन्ध में पता चला तो मुगल सरदार मुहम्मदशाह हम्मीर की शरण में चला गया।[3] इस प्रकार यह घटना युद्ध का तात्कालिक कारण बन गयी।

(5) अलाउद्दीन की साम्राज्य विस्तार की महत्त्वाकांक्षा—अलाउद्दीन की महत्त्वाकांक्षा थी कि वह सिकन्दर के समान विश्व विजेता बने। अतः उसने रणथम्भौर को विजित कर अपने साम्राज्य विस्तार का कार्य आरम्भ किया।

रणथम्भौर दुर्ग पर आक्रमण की घटनाएँ

1299 ई. में अलाउद्दीन खिलजी ने अपने दो प्रमुख सेनानायकों उलुग खाँ और नुसरत खाँ को रणथम्भौर दुर्ग पर आक्रमण हेतु भेजा। तुर्क सेना ने मार्ग में झाँई दुर्ग पर अधिकार कर हम्मीर से शरणार्थी मुहम्मदशाह को वापस लौटाने को कहा किन्तु हम्मीर ने शरणागत की रक्षा को अपना धर्म समझ कर यह माँग अस्वीकृत कर दी। सेनापति उलुग खाँ का बनास नदी के तट पर युद्ध हम्मीर के सेनापति भीमसिंह व धर्मसिंह से हुआ जिसमें तुर्कों की हार हुई। हम्मीर महाकाव्य के आधार पर डा. गोपीनाथ शर्मा ने लिखा है कि— राजपूत सेना का भाग जो धर्मसिंह के नेतृत्व में था लूट का माल लेकर रणथम्भौर लौट गया और भीमसिंह की टुकड़ी धीरे धीरे दुर्ग की ओर चली। राजपूतों ने यह सोचा था कि बनास पर पड़ी हुई सेना ही सब कुछ है परन्तु तुर्कों की सेना जो अल्प खाँ के नेतृत्व में थी चारों ओर बिखरी हुई थी। उस सेना ने लौटती हुई भीमसिंह की फौज पर धावा बोल दिया। हिन्दुवाट (हिन्दावत) घाटी में घमासान युद्ध हुआ जिसके फलस्वरूप

1 डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव, दिल्ली सल्तनत पृ. 178
2 तारीख ए फीरोजशाही (इलियट डाउसन) भाग-3 पृ. 148
3 पूर्वोद्धत पृ. 78 व 97

भीमसिंह और उसके सैकड़ों साथी रण स्थल में खेत रहे। उलुग खाँ ने राजपूतों का उस समय पीछा करना उचित नहीं समझा वह दिल्ली लौट गया।'[1]

भीमसिंह की मृत्यु का दायी हम्मीर ने धर्मसिंह को माना। अतः उसे मन्त्री पद से हटाकर उसके स्थान पर उसके भाई भोज को बनाया किन्तु भोज तुर्क आक्रमण के कारण बिगड़ी हुई आर्थिक स्थिति को सम्भालने एवं नष्ट फसलों की क्षतिपूर्ति करने में असफल रहा। हम्मीर ने बिना सोचे समझे भोज को हटाकर व अपमानित कर पुनः धर्मसिंह को मन्त्री बनाया तथा रतिपाल को दण्ड नायक बनाया। भोज अपने भाई पृथ्वीसिंह के साथ अलाउद्दीन के दरबार में गया जहाँ से उसे 'जगरा' की जागीर मिली। धर्मसिंह ने धन संग्रह हेतु कई कर लगा दिए जिससे प्रजा में असन्तोष बढ़ा और महँगाई बढ़ गई।[2] हम्मीर महाकाव्य के अनुसार—'चावल का एक दाना सोने के दो दानों' के बदले में ही खरीदा जा सकता था। मनुष्य प्रत्येक पीड़ा सह सकता है किन्तु भूखे पेट की पीड़ा नहीं। ऐसी विषम परिस्थितियों में हम्मीर ने निर्णायक युद्ध करने का निर्णय किया। भोज ने अलाउद्दीन को हम्मीर पर आक्रमण हेतु प्रेरित किया। अलाउद्दीन खिलजी ने बयाना के गवर्नर उलुग खाँ व कड़ा के गवर्नर नुसरत खाँ को 1300 ई. में रणथम्भौर पर आक्रमण हेतु भेजा। रणथम्भौर दुर्ग पर घेरा डाला गया।

तुर्क सेनापतियों ने हम्मीर को सन्देश भिजवाया कि यदि वह आत्म समर्पण कर दे तो तुर्क सेना दिल्ली चली जायेगी। साहूकारों व महाजनों ने भी हम्मीर को आत्म समर्पण हेतु सलाह दी किन्तु हम्मीर ने इस परामर्श को ठुकरा कर अपने शरणार्थी की रक्षा करने का संकल्प दुहराया।[3] अतः तुर्कों ने दुर्ग पर भीषण आक्रमण किया। दुर्ग की प्राचीरों को तोड़ने के प्रयत्न में नुसरत खाँ मारा गया। तुर्क सेना आतंकित हो भाग तक पीछे हट गई किन्तु अलाउद्दीन स्वयं सेना लेकर घटना स्थल पर आ उपस्थित हुआ। उसने बोरों में रेत भरवा कर खाइयों को भरना तथा ऊँचे स्थान बनाकर उन पर पाशिब व 'मगरबी' स्थापित करने का प्रयास किया जिसमें राजपूतों के पश्चिमी मोर्चे को तोड़ा जा सके। राजपूतों ने दुर्ग की प्राचीरों में तेल में भीगे कपड़ों में आग लगा कर तुर्क सेना पर फेंकना शुरू किया।[4] वर्षा ऋतु आरम्भ होने तथा दिल्ली व अवध में विद्रोह की सूचना मिलने से अलाउद्दीन चिंतित होने लगा। इधर दुर्ग में रसद समाप्त होने से राजपूत भी व्यग्र थे। अतः हम्मीर के सेनानायक रतिपाल व अलाउद्दीन में सन्धि वार्ता चली। अलाउद्दीन ने रतिपाल को तथा रतिपाल के द्वारा अन्य सेनापति रणमल्ल को अपनी ओर मिला लिया। अतः रतिपाल ने कुछ प्राचीरों व बुर्जों से मोर्चे व दी हटा कर

1 डॉ. गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास पृ. 178
2 हम्मीर महाकाव्य सर्ग 9, श्लोक 108-150
3 अमृत कलश हम्मीर प्रबन्ध
4 [illegible]

परिणामस्वरूप उसकी फौजें सुदूर नागदा तक पहुँच गईं। नागदा को नष्ट किया परन्तु जैत्रसिंह द्वारा स्थान स्थान पर सुल्तान का विरोध किया गया। जैत्रसिंह ने मेवाड़ से तुर्की सेना को भगाया था। यह घटना 1222 और 1229 ई. के बीच होना सम्भावित है।'[1]

अतः स्पष्ट है कि तुर्कों के मेवाड़ आक्रमण का प्रतिरोध राणा जैत्रसिंह के समय से ही प्रारम्भ हो गया था। डॉ. गोपीनाथ शर्मा का मत है कि "इल्तुतमिश के समय यह अभियान बड़ी उत्साह से अपनाया गया था जिसमें तुर्की सेना को पग-पग में आपत्ति का सामना करना पड़ा था। असफलता इस अभियान ने भावी अभियानों की योजनाओं को प्रोत्साहन दिया।"[2] जैत्रसिंह के पुत्र तेजसिंह (1252–1273) ने गुलाम वंश के सुल्तान बलबन के मेवाड़ पर आक्रमण का सफलता पूर्वक प्रतिरोध किया था। तेजसिंह के पुत्र समरसिंह (1273–1302 ई.) के राज्यकाल में 1299 ई. में सुल्तान अलाउद्दीन के छोटे भाई उलुग खाँ से गुजरात-अभियान के समय मेवाड़ की सीमा से होकर निकलने पर राणा ने उससे दण्ड लिया था। समरसिंह की मृत्यु के बाद उसका पुत्र रत्नसिंह (1302–1303 ई.) मेवाड़ का शासक बना। रत्नसिंह के समय में ही 28 जनवरी 1303 ई. को अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया जिसने चित्तौड़ की राजनीतिक स्वतंत्रता और शान्तिमय जीवन को समाप्त कर दिया।

अलाउद्दीन के चित्तौड़-आक्रमण के कारण
(Causes of Alauddin's Invasion of Chittor)

इतिहासकारों ने अलाउद्दीन के चित्तौड़-आक्रमण के निम्नलिखित कारण निर्धारित किये हैं—

(1) **अलाउद्दीन की महत्त्वाकांक्षा**—अलाउद्दीन सिकन्दर सानी (विश्व विजेता) बनना चाहता था। गुजरात व रणथम्भौर विजय के बाद वह चित्तौड़ दुर्ग को जीतना चाहता था ताकि वह अपनी दक्षिण विजय पूर्ण कर सके। डॉ. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार— 'सुदूर दक्षिण को भी वह अपने राजनीतिक प्रभाव क्षेत्र में रखना चाहता था। दक्षिण भारत की विजय तथा उत्तरी भारत पर उसके प्रभाव का स्थायित्व तभी सम्भव था जब वह चित्तौड़ जैसे अभेद्य दुर्ग को अपने अधिकार में करे। यहाँ से होकर गुजरात, मालवा में प्रवेश, संयुक्त प्रान्त, सिंध आदि भागों में व्यापारिक मार्ग जाते थे।'[3]

(2) **चित्तौड़ दुर्ग की सैनिक उपयोगिता**—चित्तौड़ दुर्ग की सामरिक उपयोगिता के सम्बन्ध में डॉ. शर्मा का कथन है कि— 'व्यापारिक उपयोगिता से

1 गौरीशंकर हीराचंद ओझा : उदयपुर राज्य का इतिहास, p. 158-163
तथा Dr. Dashrath Sharma : Rajasthan Through the Ages, p. 654
2 डॉ. गोपीनाथ शर्मा : राजस्थान का इतिहास, p. 196
3 पूर्वोक्त, p. 109

कही अधिक चित्तौड की मनिक उपयोगिता थी। राजनीतिक सत्तावादी नीति की सफलता एस दुर्गों के अधिकार स अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती थी।'[1]

(3) मेवाड की विस्तारवादी नीति—रत्नसिंह के पूवजो ने गुजरात व मालवा मे अपने राज्य विस्तार की नीति अपनाई थी। डा वी एस भागव के अनुसार— उसके तीन पूववर्ती शासक जत्रसिंह तेजसिंह और समरसिंह तेरहवी शताब्दी म दिल्ली के मुस्लिम सुल्तानो म लडते झगडते रह थ। जब दिल्ली मे मुस्लिम राज्य स्थापना की प्रक्रिया म था, उस समय मवाड न मालवा और गुजरात म अपने प्रभाव का विस्तार कर लिया था।[2]

(4) चित्तौड की रानी पद्मिनी को हस्तगत करना—कनल जेम्स टाड का मत है कि— 'भट्ट ग्रथो ने इस बात का स्वीकार किया है कि अलाउद्दीन न पद्मिनी के कारण ही चित्तौड पर आक्रमण किया था। टाड के अतिरिक्त जायसी फरिश्ता, हाजी उद्दबीर और अ य पाश्चात्य व फारसी लेखको न पद्मिनी के रूप को राणा और सुल्तान के युद्ध का मूल कारण बताया है। अलाउद्दीन ने राणा को लिख भेजा कि अपनी रूपमती रानी पद्मिनी को उसके हरम (महल) म भेज दो तो चित्तौड को स्वत त्र राज्य मान लेगा। राणा न इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया और दानो म युद्ध हुआ।'[3] पद्मिनी को हस्तगत करने के इस कारण का विस्तार स विवेचन करना आवश्यक है।

क्या पद्मिनी प्रकरण कपोल कल्पित कहानी है ?
(Is Padmini Episode a mere myth ?)

अलाउद्दीन द्वारा पद्मिनी को हस्तगत करना चित्तौड–आक्रमण का तात्कालिक कारण माना जाता रहा है।[4] इसम ऐतिहासिक तथ्य क्या है ? इसका विवेचन किया जाना वांछनीय है। डा गोपीनाथ शर्मा[5] का मत है कि— इस कथा का प्रचलन मुख्य रूप से मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत नामक हिन्दी काव्य ग्रथ म आरम्भ होना माना गया है। इस ग्रथ की रचना शेरशाह सूर के समय 1540 ई म की गई थी। पद्मावत बनने के लगभग 70 वष बाद मुहम्मद कासिम फरिश्ता ने अपनी पुस्तक 'तारीखे फरिश्ता' लिखी। उसन पद्मिनी को राणी न कहकर राणा की राजकुमारी बताया और उस दिल्ली भेजने की बात लिख दी। हाजी उद्दबीर का पद्मिनी क वणन म रत्नसिंह और पद्मिनी का नाम नही है पर उसके बजाय एक गुणवती स्त्री का वणन है। इसी कथा को कुछ पाठा तर स कनल टाड ने भाटो की पुस्तको के आधार पर लिखा। उसन रत्नसेन के स्थान पर भीमसिंह का सम्बन्ध पद्मिनी स जोडा। उसने यह घटना लक्ष्मणसिंह के समय की बताइ और

1–2 पूर्वोद्धृत p 108–9
3 टॉड एनल्स एण्ड ऐंटीक्विटिज ऑफ राजस्थान p 151
4 बी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास, p 87
5 डा गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास p 209–216

भीमसिंह को लक्ष्मणसिंह का चाचा माना।" इस प्रकार 'पद्मावत' काव्य के आधार पर बाद के इतिहासकारों ने पद्मिनी की कथा को भिन्न भिन्न प्रकार से वर्णित किया है। इस कथा को सत्य तथा असत्य मानने वाले इतिहासकारों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है तथा उनके तर्कों की परीक्षा की जा सकती है।

इतिहासकारों का प्रथम वर्ग जिनमें प्रो मुहम्मद हबीब, प्रो एम राय प्रो एस सी दत्त डॉ दशरथ शर्मा डा आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव मुनिजिन विजय व डा गोपीनाथ शर्मा सम्मिलित हैं इस कथा को सत्य मानकर स्वीकार करते हैं उनमें से कुछ के मत इस प्रकार हैं। डॉ दशरथ शर्मा का मत है कि— यह केवल साहित्यिक कल्पना नहीं है। जो लोग से मलिक मोहम्मद जायसी के मस्तिष्क की सूझ बूझ मानकर काल्पनिक समझते हैं व भूल करते हैं क्योंकि जायसी के महाकाव्य से 14 वर्ष पहले सीता चरित में पद्मिनी की कहानी को लिपिबद्ध किया गया था।[2] अपने मत के समर्थन में उनका तर्क है कि जायसी के काव्य पद्मावत में अंतिम 4 पंक्तियों जिनके आधार पर इस कथा को एक दृष्टांत कथा माना जाता है उन प्रामाणिक प्रतियों में नहीं हैं जिनका वैज्ञानिक ढंग से सम्पादन डा माताप्रसाद गुप्त व डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल ने किया है। पद्मावत में राघव चेतन भिक्षुक की कथा भी ऐतिहासिक सत्य है क्योंकि उसका वर्णन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की कृतियों में भी विद्यमान है। पद्मावत से पूर्व रचित खिताई चरित तथा गोरा बादल चरित ग्रंथों में इस घटना का उल्लेख है। इस कथा को सत्य मानते हुए ही फरिश्ता हाजी उद्बीर अबुलफजल व टॉड ने अपने ग्रंथों में उसका उल्लेख किया है। रामवल्लभ सोमानी भी इस कथा को सत्य मानते हैं।

पद्मिनी की कथा का खण्डन करते हुए उन असत्य मानने वाले इतिहासकारों के वर्ग में डा गौरीशंकर हीरानन्द ओझा डॉ लाल डा कानूनगो डा आशीर्वादीलाल आदि प्रमुख हैं। डा ओझा का कथन है कि— इतिहास के अभाव में लोगों ने पद्मावत को ऐतिहासिक पुस्तक मान लिया परंतु वास्तव में वह आजकल के ऐतिहासिक उपन्यासों की सी कवित्वबद्ध कथा है जिसका कलेवर इन ऐतिहासिक बातों पर रचा गया है कि रत्नसेन चित्तौड़ का राजा पद्मिनी उसकी रानी और अलाउद्दीन दिल्ली का सुल्तान था जिसने रत्नसेन से लड़कर चित्तौड़ का किला छीना था। बहुधा अन्य सब बातें कथा को रोचक बनाने के लिए कल्पित खड़ी की गई हैं। डॉ लाल का भी मत है कि— मलिक मुहम्मद जायसी की इस कथा में जिसमें प्रेम क्रीड़ा, साहस और विवाह सुंदरता से सजाए गए हैं शीघ्र ही जन साधारण के मस्तिष्क में स्थान बना लिया। फारसी वक्तव्यकारों ने कल्पना और वास्तविकता के बीच कोई भेद करने की अधिक चिंता नहीं की और इसे सच्चा इतिहास मान लिया। कहानी के परम्परागत वर्णन को ताक पर रखने के पश्चात् नग्न सत्य यह है कि सुल्तान अलाउद्दीन ने 1303 ई में चित्तौड़ पर

1 *Dr Dashrath Sharma* Rajasthan Through the Ages
2 डॉ गौरीशंकर हीरानन्द ओझा उदयपुर राज्य का इतिहास p 187

आक्रमण किया और आठ माह के विकट सघष के पश्चात् उसे अधिकृत कर लिया। वीर राजपूत योद्धा आक्रांता स युद्ध करते हुए खेत रहे और वीर राजपूत स्त्रियाँ जोहर की ज्वालाओ म समाधिस्थ हो गइ। जो स्त्रियाँ समाधिस्थ हुइ उनम सम्भवत रत्नसिह की एक रानी भी थी, जिसका नाम पद्मिनी था। इन तथ्या के अतिरिक्त और सब कुछ एक साहित्यिक सरचना है, और उसके लिए एतिहासिक समथन नही है।'[1] डा कानूनगो के शब्दो मे— पद्मिनी तथा उससे सम्बधित अधिकाँश व्यक्तियो के अस्तित्व मे सदेह है और सम्पूण वणन एक कथानक मात्र है।'[2]

उपरोक्त पक्ष व विपक्ष के मता का मूल्याँकन करत हुए डा गुप्ता व डा ओझा का यह कथन उल्लेखनीय है कि—'पद्मिनी अ तकथा के सदिग्ध होने का सबसे बडा कारण जायसी का 'पद्मावत' है जो कि अतिशयोक्तिपूण वणनो एव काल्पनिक उडानो से समृद्ध है। वस्तुत जायसी एक सूफी स त था उसका उद्देश्य भारतीय लोक मानस म सूफी मत की प्राग प्रतिष्ठा करना था। इसीलिए उन्होन पद्मिनी की कथा का काव्य आधार बनाया। यद्यपि पद्मावत की समस्त घटनाएँ सत्य नही हैं तथापि सूत्ररूप स किसी एक घटना की सत्यता निर्विवाद है।'[3] बी एम दिवाकर का भी मत है कि— कहानी मे इतना सत्य है कि पद्मिनी राणा रत्नसिह की रानी थी जो राणा के युद्ध मे मारे जाने पर अग्नि म जल कर मर गई थी। राणा का पकडा जाना भी राजपूत मानते है। उसे नीति से छुडाया गया यह भी सत्य ही है कि तु पद्मिनी का 1600 पालकियो मे जाना, जिस फरिश्ता सिफ 700 बताता है और उद्दवीर 500 ही गिनता है। जायसी और फरिश्ता कहते हैं कि उन्ह चित्तौड के पास ही पहाडिया म रखा गया। ये सब कथा की कल्पना का अग है। जायसी के आधार पर इस इतना बडा एतिहासिक सत्य नही मानना चाहिए। अभी अनुस धान की और आवश्यकता है जो वास्तविक सत्य को हमारे सामने रख सके।[4]

अलाउद्दीन की चित्तौड पर विजय—उपरोक्त कारणो की समीक्षा करत हुए डा गोपीनाथ शर्मा का कथन है कि— इसमे कोई सन्देह नही कि चित्तौड आक्रमण के लिए अलाउद्दीन का प्रमुख आशय राजनीतिक था परन्तु जब पद्मिनी की सुदरता का हाल उसे मालूम हुआ तो उसका लन की उत्कठा उसमे तीव्र हो गई। आक्रमण के कारणो म राजनीतिक महत्वाकाँक्षा के साथ पाशविक पिपासा का पुट लगा हो ऐसा आभास दिखाई देता है।[5] अत अलाउद्दीन के आक्रमण का प्रमुख उद्देश्य उसकी साम्राज्यवादी एव विस्तारवादी नीति ही थी।

1 डॉ लाल खिलजी वश का इतिहास, p 102–107
2 *Dr Qanungo* Studies in Rajput History
3 डॉ के एस गुप्ता व डॉ जे के ओझा राजस्थान का इतिहास–एक सर्वेक्षण
4 बी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास p 94
5 पूर्वोक्त, p 215

अलाउद्दीन के चित्तौड़ दुर्ग के घेरे व आक्रमण के समय उसके साथ अमीर खुसरो भी था जो लिखता है कि दुर्ग 26 अगस्त, 1303 ई को फतह हुआ। दुर्ग की रक्षार्थ युद्ध करते हुए वीर गोरा तथा बादल ने प्राणोत्सर्ग किया। जब अलाउद्दीन ने किले में प्रवेश किया तो पद्मिनी रानी 1600 स्त्रियों के साथ जौहर कर चुकी थी जो चित्तौड़ का पहला शाका कहलाता है। सुल्तान ने हिन्दुओं का कत्ल करने के बाद किला अपने पुत्र खिज्र खाँ को सौंपा व दिल्ली चला गया। किले का नाम खिजराबाद रखा गया। खिज्र खाँ 1318 तक चित्तौड़ में रहा किन्तु प्रशासन ठीक से न करने के कारण जालौर के बागी सरदार मालदेव सोनगरा को यह दुर्ग सौंप दिया गया किन्तु 1316 में अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद उसके निर्बल उत्तराधिकारी मालदेव व उसके पुत्र की सहायता न कर सके। 1340 में चित्तौड़ को पुन: हस्तगत करने का श्रेय हम्मीर को मिला।

अलाउद्दीन खिलजी की सिवाना दुर्ग पर विजय तथा शीतल देव द्वारा प्रतिरोध

(Alauddin Khilji's Conquest of Siwana and Resistance by Shital Deo)

चित्तौड़ विजय के तीन वर्ष बाद अलाउद्दीन पुन: राजस्थान में राज्य विस्तार की ओर गया और उसने 2 जुलाई 1308 में वर्तमान राजस्थान के बाड़मेर जिले में स्थित सिवाना दुर्ग पर आक्रमण किया। विभिन्न स्रोतों के आधार पर डा गुप्ता व डा ओझा ने इस आक्रमण का विवरण देते हुए कहा है कि— यह दुर्ग कान्हड़देव (सिरोही के सोनगिरा चौहान शासक) के भतीजे शीतल देव के पास था। फुतूहात फिरोजशाही के अनुसार यह घेरा दीर्घ चला। खिलजी सेनाओं ने इसको लेने के कठोर प्रयास किये जिनमें उन्हें बड़ा नुकसान भी हुआ किन्तु डा दशरथ शर्मा के अनुसार अलाउद्दीन इससे निराश होने वाला नहीं था। उसने तुर्की गति से आक्रमण किया। शीतल देव ने डट कर मुकाबला किया। नयनसी की ख्यात और कान्हड़दे प्रबन्ध के अनुसार विश्वासघात के कारण अन्त में अलाउद्दीन को सफलता मिली। डा दशरथ शर्मा का मत है कि हार का वास्तविक कारण पानी का अभाव था अतएव स्त्रियों ने जौहर किया व राजपूत सैनिकों ने अन्त तक खिलजी सेना का सामना कर अपना जीवन उत्सर्ग किया।

अमीर खुसरो ने भी सिवाना के सैनिकों की वीरता और शौर्यता की बहुत प्रशंसा की है। अन्त में नवम्बर में अलाउद्दीन को दुर्ग लेने में सफलता मिली और यहाँ का शासक शीतल देव मारा गया। कमालुद्दीन गुर्ग को वहाँ का प्रशासक नियुक्त कर अलाउद्दीन अपनी राजधानी लौट गया। इस दुर्ग का नाम उसने खैराबाद रख दिया। परन्तु राजस्थान का अन्तिम और महत्त्वपूर्ण संघर्ष उसका जालौर से हुआ।[1]

1 डॉ गुप्ता एवं डॉ ओझा राजस्थान का इतिहास–एक सर्वेक्षण p 32

अलाउद्दीन की जालौर दुर्ग पर विजय एवं कान्हड़ देव द्वारा प्रतिरोध
(Alauddin s Conquest of Jalore Fort and Resistance by Kanhad Deo)

पृष्ठभूमि—अलाउद्दीन खिलजी के समय जालौर स्थित दुर्ग पर चौहानों की सोनगिरा शाखा का शासक कीर्तिपाल था जिसने तुर्कों का वीरता से प्रतिरोध किया। उसके पूर्वजों ने भी तुर्कों से संघर्ष किया था। प्राचीन शिलालेखों के आधार पर जालौर का प्राचीन नाम जाबालीपुर तथा दुर्ग का नाम स्वर्णगिरि था जिसे अपभ्रंश भाषा में सोनगढ़ कहते थे। इसी के आधार पर चौहानों की यहाँ राज्य करने वाली शाखा का नाम सोनगरा' हो गया। प्रारम्भ में यह दुर्ग परमारों के अधिकार में था जो कभी स्वतन्त्र तो कभी चालुक्यों के अधीन सामन्त के रूप में राज्य करते थे। जालौर तोपखाने के शिलालेख के अनुसार नाडौल शाखा के चौहान शाखा के शासक कीर्तिपाल ने 1181 में जालौर दुर्ग को प्रतिहारों से छीन कर राज्य स्थापित किया।[1]

कीर्तिपाल के पुत्र समरसिंह ने दुर्ग को सुदृढ़ कर गुजरात के शासक भीमदेव द्वितीय से अपनी पुत्री लीला देवी का विवाह कर अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाई। समरसिंह के पुत्र उदयसिंह (1205–1257) ने सपादलक्ष के चौहानों के पतन के बाद तुर्की साम्राज्य विस्तार का प्रतिरोध किया। उसने मंडोर व नाडौल को जीत कर तुर्की गुलाम वंश के सुल्तान की शक्ति को नीचा दिखाया।[2] उसके पुत्र चाचिग देव (1257 1282) ने तुर्क सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद व बलबन के समय अपनी राज्य सीमा को बढ़ाया। चाचिग देव के पुत्र सामन्तसिंह (1282 1305) के समय अलाउद्दीन खिलजी के 1291 में साँचौर आक्रमण को गुजरात के शासक बाघेला सारंग देव की सहायता से विफल किया गया था। सामन्तसिंह के पुत्र कान्हड़ देव के समय अलाउद्दीन खिलजी से सीधा संघर्ष हुआ।[3]

अलाउद्दीन के जालौर–आक्रमण के कारण

अलाउद्दीन के जालौर दुर्ग पर आक्रमण के निम्नांकित कारण थे—

(1) जालौर की भौगोलिक व सामरिक स्थिति—डा गोपीनाथ शर्मा ने जालौर की भौगोलिक एवं सामरिक स्थिति का इस प्रकार वर्णन किया है— जिस प्रकार रणथम्भोर के चौहान एक सुदृढ़ शक्ति के रूप में थे उसी प्रकार जालौर के चौहान भी तुर्की सल्तनत के लिए कंटक के समान थे। जालौर मारवाड़ राज्य की सीमा का सुदृढ़ किला था जहाँ से गुजरात तथा मालवा की ओर दिल्ली से मार्ग जाते थे। सुल्तानों की दक्षिण विजय के स्वप्न साकार बनाने के लिए यह नितान्त आवश्यक था कि जालौर जैसे सुदृढ़ गढ़ को अपने अधिकार में रखें। इसी कारण समय समय पर यहाँ के शासकों का और तुर्कों का संघर्ष चलता रहा।[4]

1 डॉ दशरथ शर्मा अर्ली चौहान डाइनेस्टीज p 145–46
2 नैणसी ख्यात भाग-1 p 158
3 तारीखे फीरोजशाही (इलियट-डाउसन) भाग-3 p 32–33
4 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास p 182

(2) जालौर शासक की बढ़ती हुई शक्ति—जालौर के कान्हड़ देव व पूर्व शासकों ने अपनी राज्य सीमा का काफी विस्तार कर लिया था। सांचौर के युद्ध में तुर्की सेना की पराजय से अलाउद्दीन खिलजी कुपित था और प्रतिशोध लेना चाहता था। गुजरात रणथम्भोर व जालौर के शासकों की मुस्लिम विरोधी नीति एवं प्रतिरोध की भावना से तुर्क सुल्तान की दक्षिण विजय की महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति नहीं हो रही थी। अतः उसने जालौर दुर्ग को विजित करने का मानस बनाया।

(3) अलाउद्दीन का विजय अभियान—जैसा कि पूर्व में कहा गया है अलाउद्दीन सिकन्दर सानी (विश्व विजेता) बनना चाहता था, उसकी रणथम्भोर व चित्तौड़ की विजयों से उसका मार्ग प्रशस्त हो रहा था। वह दक्षिण विजय हेतु मार्ग के अवरोध जालौर को अधिकृत करना चाहता था।

(4) तात्कालिक कारण—गुजरात अभियान में मार्ग न देना—अलाउद्दीन के जालौर आक्रमण का तात्कालिक कारण उसकी सेना को गुजरात अभियान के समय मार्ग न देना तथा लौटते समय उस पर आक्रमण करना था। 1298 में गुजरात अभियान को जाते समय अलाउद्दीन ने कान्हड़ देव को मार्ग देने हेतु कहा किन्तु कान्हड़ देव ने उत्तर भिजवाया कि— आपकी सेना ब्राह्मण विरोधी है और गौओं की हत्या करती है तथा स्त्रियों तथा शांतिप्रिय जनता को बंदी बनाती है उनके प्रति उसकी कोई सहानुभूति नहीं। तुर्क सेना के सेनापतियों—उलुग खाँ व नुसरत खाँ ने उस समय तो कान्हड़ देव से कोई संघर्ष नहीं किया और सेना को मेवाड़ होकर गुजरात ले गए किन्तु गुजरात विजय व सोमनाथ मन्दिर को तोड़ने के बाद जब तक सेना वापस लौटते समय जालौर होकर गुजरी तो सेना में लूट के सामान के बंटवारे पर मंगोल सैनिकों का असन्तोष व्याप्त था, अतः कान्हड़ देव की सेना ने तुर्क सेना पर आक्रमण कर उसे दिल्ली भाग जाने पर विवश किया।[1] यह घटना अलाउद्दीन खिलजी के लिए अपमानजनक थी।

डा. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार— इस अभियान में लज्जित अलाउद्दीन ने जालौर की उपेक्षा की और अपना पूरा ध्यान रणथम्भोर और चित्तौड़ विजय में लगा दिया। इन विजयों से सुल्तान के हौसले बढ़ गए। उसके लिए अब उपयुक्त समय था कि वह जालौर की शक्ति को भी कुचल दे।[2]

अलाउद्दीन का जालौर पर आक्रमण

1305 ई. में सुल्तान अलाउद्दीन ने अपने सेनानायक एन उल मुल्क मुल्तानी के नेतृत्व में एक सेना जालौर भेजी। डा. गुप्ता व डा. ओझा का कथन है कि— तब किसी प्रकार का युद्ध नहीं हुआ और वह कान्हड़ देव को समझा बुझाकर दिल्ली ले आया। दिल्ली दरबार का वातावरण कान्हड़ देव के स्वाभिमान

1 कान्हड़दे-प्रबन्ध खण्ड-1 पद्य 32-33 व 220-221
तथा डॉ. लाल खिलजी वंश का इतिहास p 114
2 पूर्वोक्त p 184

के विरुद्ध था और एक दिन फरिश्ता के अनुसार सुल्तान ने स्पष्टतः हिन्दू शासकों की शक्ति को चुनौती दी जिसे कान्हड़ देव सहन न कर सका और सुल्तान के विरुद्ध लड़ने हेतु जालोर आकर युद्ध की तैयारी में लग गया।'[1] डॉ दशरथ शर्मा ने इस मत की पुष्टि की है। इस सम्बन्ध में 'कान्हड़दे प्रबन्ध' में कान्हड़ देव के पुत्र वीरम तथा अलाउद्दीन की शाहजादी फिरोजा के प्रेम की कथा उल्लेखनीय है। कान्हड़ देव का पुत्र वीरम जब अलाउद्दीन के दरबार में रहता था अलाउद्दीन के हरम की एक राजकुमारी फिरोजा उससे प्रेम करने लगी। सुल्तान के डराने धमकाने पर भी जब फिरोजा अपने निश्चय पर दृढ़ रही तो सुल्तान ने वीरम को फिरोजा से विवाह हेतु विवश किया किन्तु वीरम एक तुर्क कन्या से विवाह करना अधार्मिक मान कर जालोर लौट गया। इस अपमान से क्षुब्ध हो सुल्तान ने जालोर पर आक्रमण किया किन्तु सफलता न मिलने पर शाहजादी फिरोजा स्वयं जालोर गई। कान्हड़ देव ने अपने पुत्र से उसका विवाह में इन्कार कर देने पर फिरोजा दिल्ली लौट गई और कुछ वर्षों बाद अपनी धाय गुलबहिश्त को जालोर पर आक्रमण कर वीरम को मार कर उसका सिर लाने का आदेश दिया। राजपूत सेना पराजित हुई व वीरम का सिर काट कर दिल्ली लाया गया। राजकुमारी उस सिर के साथ सती होना चाहती थी किन्तु उसका दाह संस्कार कर यमुना में कूद कर आत्म हत्या कर ली।[2] नैणसी ने इस कथा का उल्लेख किया [3]।[3] फरिश्ता ने भी इसकी पुष्टि की है।[4]

डॉ लाल ने कान्हड़ देव व उसके पुत्र की उपरोक्त कथाओं को अविश्वसनीय माना है।[5] किन्तु डॉ गोपीनाथ शर्मा का कथन है कि— कम से कम ऐसी घटनाएँ महत्वपूर्ण बताई जा सकती हैं परन्तु इनको अमान्य ठहराना ठीक नहीं। 1299ई के आक्रमण और 1311 ई के आक्रमण के समय के बीच एक लम्बी अवधि इन कथाओं की मान्यता को कुछ बल देती है। अलाउद्दीन इस लम्बे काल तक जालोर के सम्बन्ध में उदासीन रहे ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि इन आक्रमणों में उसे सफलता नहीं मिली इसी से फारसी तवारीखों में उन घटनाओं को स्थान नहीं दिया गया। इसके अतिरिक्त कान्हड़दे प्रबन्ध में दी गई कथा का फरिश्ता द्वारा उद्धृत की गई हो ऐसा तो नहीं दीख पड़ता परन्तु दोनों में दी गई कथा का आधार एक प्राचीन परम्परा अवश्य है। इसी स्थिति में कथा के कतिपय अंशों को निरा कपोल-कल्पित नहीं ठहराया जा सकता।'[6]

जालोर पर आक्रमण के पूर्व अलाउद्दीन खिलजी ने सिवाना दुर्ग को 1308ई में विजित किया। 1305ई में जालोर पर प्रथम आक्रमण तथा 1311ई में अंतिम आक्रमण के बीच की अवधि में कान्हड़ देव का युद्ध की तैयारी न कर

1 डॉ गुप्ता व डॉ ओझा राजस्थान का इतिहास-एक सर्वेक्षण p 33
2 कान्हड़दे-प्रबन्ध खण्ड 4 पद्य 326-29
3 नैणसी री ख्यात p 153-55
4 तारीख फरिश्ता Journal of Indian History p 369-78
5 डॉ लाल खिलजी वंश का इतिहास p 114 15
6 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास p 186

पाने के लिए दोषी ठहराते हुए डा वी एम भार्गव ने कहा है कि— 'वास्तव में यह कान्हड देव की ऐसी भूल थी कि जिसके लिए उसे क्षमा नहीं किया जा सकता था। 1305 ई में अलाउद्दीन की सेनाएँ सल्तनत के आन्तरिक तथा बाह्य शत्रुओं से युद्ध करते हुए उकता चुकी थी जबकि कान्हड देव को 5 वर्ष का समय मिल चुका था। यदि उस समय वह ऐन-उल-मुल्क के मुलावे में नहीं आता तो आक्रमणकारियों को पराजित करके जालौर तथा सिवाना को भावी विनाश से बचा सकता था।[1] यह कथन कान्हड देव में कूटनीतिक बुद्धि का अभाव प्रकट करता है।

जालौर पर 1311 ई में तुर्की-आक्रमण—सिवाना दुर्ग को विजित करने के पश्चात् अलाउद्दीन खिलजी दिल्ली लौट गया किन्तु उसकी सेना को जालौर पर आक्रमण हेतु जाने का आदेश हुआ। मार्ग में इस सेना ने बाडमेर का घेरा व सांचौर के महावीर के मन्दिर को नष्ट भ्रष्ट किया। भीनमाल मे चौहानकालीन शिक्षा केन्द्र को भी नष्ट किया। इससे कान्हड देव बडा चिन्तित हुआ और उसने पडौसी राजपूतों को सहायतार्थ आमन्त्रित किया। रेवती व धारा(?)मा के मार्ग में आने वाले राजपूतों ने खण्डाला में तुर्क सेना का प्रतिरोध किया व भगाया। जब राजपूत वीर जैता व देवा शत्रुओं के नक्कारे छीन कर जालौर कान्हड देव को अपनी विजय की सूचना देने आ रहे थे तो शत्रु सेनापति मलिक नायब भागती तुर्क सेना को संगठित कर जालौर को लेने हेतु 7 दिन तक जूझता रहा किन्तु कान्हड देव के पुत्र वीरम देव व मालदेव ने उसे मडेता के मार्ग तक खदेड दिया तथा तुर्क सेनापति शम्स खाँ उसकी पत्नी व साथी बन्दी बना लिये।

इस पराजय के बाद तुर्क सेनापति कमालुद्दीन गुर्ग ने सेना को संगठित कर पुन जालौर पर आक्रमण किया किन्तु कान्हड देव व उसके पुत्रों ने बडी वीरता से उसका सामना किया। दुर्ग में पानी व रसद की कमी हो गई थी। तुर्क सेनापति ने धोखे से दुर्ग अधिकृत करने का प्रयास किया। एक दहिया राजपूत बीका (जो जालौर का शासक बनने की महत्त्वाकांक्षा रखता था) को तुर्कों ने अपनी ओर मिला लिया जिसने तुर्क सेना को एक अरक्षित मार्ग से दुर्ग में प्रवेश करा दिया। बीका की वीर व स्वामिभक्त पत्नी को जब यह ज्ञात हुआ तो उसने अपने पति को मार कर उसके विश्वासघात की सूचना कान्हड देव को दी किन्तु शत्रु किले में प्रवेश कर चुके थे। सभी राजपूत वीर अपने स्वामी कान्हड देव के नेतृत्व में उसके साथ ही किले की रक्षार्थ लडते हुए वीरगति को प्राप्त हुए।[3] डा दशरथ शर्मा ने इस तथ्य की पुष्टि की है।[4]

डा गोपीनाथ शर्मा ने तुर्क आक्रमण के राजपूतों द्वारा इस प्रतिरोध का वर्णन करते हुए कहा है कि— फिर भी राजपूतों ने हिम्मत न हारी। कान्हड देव

1 डॉ वी एम भार्गव राजस्थान का इतिहास p 105
2 कान्हड़दे प्रबंध खण्ड–3 p 73–185
3 वही खण्ड–4 p 115–250
4 *Dr Dasharath Sharma* Early Chauhan Dynasties p 168 69

के पुत्र वीरम देव ने बची हुई शक्ति का संगठन कर युद्ध को जारी रखा। थोड़े से मुट्ठी भर राजपूत रसद की कमी हो जाने तथा शत्रुओं के किले में घुस आने से युद्ध को अधिक समय न चला सके। वीरम देव ने यह समझकर कि उसे शत्रु मार देंगे या बन्दी बना लेंगे, स्वयं अपने पेट में कटार भोंक ली और मृत्यु की गोद में जा बैठा। इसी अवधि में राजपूत महिलाओं ने जौहर कर अपने सतीत्व की रक्षा की तथा अन्य किले के निवासी भी अपनी अन्तिम साँस तक शत्रुओं से लड़ कर काम आए। इस प्रकार रक्तपात के उपरान्त किला खिलजियों के हाथ लगा। इस विजय की स्मृति में सुल्तान ने एक मस्जिद का निर्माण करवाया जो अभी भी वहाँ विद्यमान है। कान्हड़ देव का भाई मालदेव जालोर के पतन के पश्चात् किसी प्रकार भीषण संहार से बच निकला। बाद में उसने सुल्तान की सद्भावना अर्जित कर ली जिससे उसने उसे चित्तौड़ के कार्यभार को सम्भालने के लिए नियुक्त किया।'[1] यह जालोर दुर्ग पर तुर्क विजय 1311 ई. में हुई।

कान्हड़ देव का मूल्यांकन—डॉ. दशरथ शर्मा के शब्दों में—"इस घटना ने चौहानों के अन्तिम प्रतिनिधित्व करने वाले वीर कान्हड़देव का अन्त कर दिया। वह दृढ़ चरित्र का व्यक्ति था। सेनापति के रूप में वह अपने हिन्दू समकालीन वीर शासकों से किसी प्रकार कम न था। कान्हड़ देव एक वीर साहसी व धर्मनिष्ठ शासक था जो राजपूत शौर्य का प्रतिनिधित्व करता था। उसकी असफलता उसकी व्यक्तिगत दुर्बलता न होकर तत्कालीन समाज की दुर्बलता थी। वह अपने ढंग का महान् व्यक्ति था किन्तु वह और भी महानतर व्यक्ति सिद्ध होता यदि वह रणथम्भौर, मालवा व गुजरात से संयुक्त होकर अपनी स्वतन्त्रता तथा शेष भारत की स्वाधीनता की रक्षा कर पाता।"[2]

1 डॉ. गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान का इतिहास, p. 190

2 *Dr. Dashrath Sharma, Early Chauhan Dynasties, p. 70.*

3

मेवाड का एक प्रादेशिक शक्ति के रूप में उदय—मालवा व गुजरात से अन्तर-प्रादेशिक प्रतिद्वन्द्विता-मारवाड व हाडौती से अन्त प्रादेशिक प्रतिद्वन्द्विता—कुम्भा व साँगा की भूमिका

(Rise of Mewar into a Regional Power—Inter-regional Rivalry with Malwa & Gujrat–Inter-regional Rivalry with Marwar & Harouti–Role of Kumbha & Sanga)

मेवाड का एक प्रादेशिक शक्ति के रूप मे उदय
(Rise of Mewar into a Regional Power)

पिछले अध्याय म अलाउद्दीन खिलजी की चित्तौड विजय के सन्दभ म बतलाया जा चुका है कि तुर्कों के आक्रमण ने गुहिलवशी राजपूता की रावल शाखा के शासन का अ त हो गया था किन्तु गुहिला की सीसादिया शाखा क वीर सामन्त हम्मीर न 1326 ई के लगभग चित्तौड पर पुन अधिकार कर मवाड का एक स्वत त्र राज्य के रूप म प्रतिष्ठित किया। राणा हम्मीर ने अपनी राज्य सीमा का भी विस्तार किया। मवाड की यह विस्तारवादी नीति का चरमोत्कष हम्मीर क वशज कुम्भा व साँगा के समय हुआ जिससे मवाड एक प्रादेशिक शक्ति के रूप मे उन्नित हुआ।

डा गोपीनाथ शमा न मवाड के शक्ति सम्पन्न बनने का वणन करते हुए कहा है कि—' रतनसिह के चित्तौड के घेरे के समय काम म आ जाने स समूची रावल शाखा की भी समाप्ति हा गई। इस अवसर पर सीसादे के सरदार लक्ष्मणसिह ने भी अपन पुत्रा सहित अपनी जान की बाजी लगा दी। एक प्रकार से यह मवाड के सवनाश का काल था। शाक के समय असख्य अबलाए बाल और बूढे राव क ढेरो म विलीन हो गए थे। लम्बे घेर के फलस्वरूप जन जीवन अस्त व्यस्त हो गया था। मवाड म जन और धन की इतनी हानि हुइ थी कि जिसका अनुमान लगाना कठिन है। पहले ता तुर्कों का बानवाला चित्तौड और आसपास के भागो पर आरम्भ हा गया और पीछे स मालदव का चित्तौड की सत्ता मिलन पर चौहाना का प्राबल्य चारा ओर बढने लगा। गाडवाड का इलाका भी चौहाना के कब्ज म आ गया। इस दयनीय स्थिति स उभारन का श्रेय हम्मीर को है जो सीसादे का सरदार था और अरिसिह का उत्तराधिकारी था। उसन मेवाड के उद्धार का बीडा उठाया जिसम उस सफलता मिली। उसक द्वारा स्थापित परम्परा उसके उत्तराधिकारी चलात रह। इस परम्परा का विस्तृत रूप हम हम्मीर क चौथ वशज कुम्भा के समय म पात हैं जिसके समय म मवाड राज्य का विस्तार अपना चरम सीमा पर पहुँच जाता है।'[1]

हम्मीर एव उसके उत्तराधिकारियो द्वारा मेवाड को प्रादेशिक शक्ति के रूप मे उभारने हेतु योगदान

(1) हम्मीर (1326–1364 ई)—1326ई म हम्मीर ने न कवल मवाड का एक छोटी जागीर सीसादा का स्वामी होत हुए भी चित्तौड पर पुन अधिकार जमा कर उस स्वतन्त्र राज्य बनाया अपितु उसन पडोसी राज्या का परास्त कर अथवा उनस मत्री सम्ब ध स्थापित कर अपनी राज्य सीमा एव प्रभाव क्षेत्र का विस्तार किया। कनल टाड क शब्दो म— हम्मीर अपन समय का प्रबल हि दू राजा था जिसके अधीन मारवाड, जयपुर, बूदी, ग्वालियर चदेरी, रायसीन सीकर कालपी व आबू के शासक थ।[2] डा गापीनाथ शमा न इस पर टिप्पणी करत हुए कहा है कि—"यह कथन अतिशयोक्ति रहित नही है क्योकि बूदी और टडर के आगे बाहरी शासका पर उसका कितना अधिकार था यह स देहात्मक है। अलबत्ता उसन अपने शौय मे एक शक्तिशाली शासक का स्थान अवश्य प्राप्त कर लिया था और मवाड की सीमाओ का विस्तारित करन म सफलता प्राप्त कर ली थी। उपरोक्त शासका न उसक राजनीतिक प्रभाव को मान्यता दी हा ता कोई आश्चय नही।[3]

(2) क्षेत्रसिह (1364–1382 ई)—हम्मीर के बाद उसका पुत्र मेवाड राज्य का राणा बना। कुम्भलगढ शिलालेख से प्रकट होता है कि— उसन अपने

1 3 डा गोपीनाथ शमा राजस्थान का इतिहास p 217 व 218
2 *Col Tod* Annals & Antiquities of Rajasthan p 319-20

बल व पुरुषार्थ से अजमेर, जहाजपुर, माण्डल और छप्पन को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। मालवा के शासक दिलावर खाँ गोरी को पराजित कर भावी मालवा मेवाड़ संघर्ष का सूत्रपात किया। हाड़ौती के हाड़ाओं को दबाने का श्रेय भी उसी को है।"[1] गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने भी इस तथ्य की पुष्टि की है।[2]

(3) लक्षसिंह (लाखा) (1382–1421 ई.)—एकलिंग व चित्तौड़ के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि राणा लाखा ने बदनौर को विजित कर राज्य सीमा में वृद्धि की, डोडिया राजपूतों को तरनगढ़ व दराय व मसूदा की जागीर देकर अपना उमराव बनाया तथा जावर की चाँदी की खान में उसने अनेक किले व पिछोला झील का निर्माण कराया। उसने संस्कृत के विद्वानों झोटिंग भट्ट व धनेश्वर भट्ट को राज्याश्रय दिया।

कर्नल टॉड व ओझा ने लाखा के समय की एक महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख किया है जिससे मेवाड़ मारवाड़ के सम्बन्धों एवं उसके परिणामों पर प्रकाश पड़ता है। मण्डोर (मारवाड़) के राठौड़ नरेश रणमल ने लाखा के पुत्र चूड़ा के लिए अपनी बहिन हंसाबाई से विवाह हेतु नारियल भेजा किन्तु लाखा के परिहास के परिणामस्वरूप हंसाबाई का विवाह लाखा से इस शर्त पर हुआ कि उसकी संतान को मेवाड़ की गद्दी पर अधिकार होगा। कुंवर चूड़ा ने इस शर्त के लिए अपनी सहमति दी। हंसाबाई से मोकल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ जो आगे चलकर मेवाड़ का शासक बना।

(4) मोकल (1421–1433 ई.)—लाखा की मृत्यु के समय मोकल की आयु 12 वर्ष की थी अतः उसके चाचा चूंडा ने संरक्षक के रूप में राज्य कार्य किया। चूड़ा पर हंसाबाई का सन्देह होने पर चूड़ा मेवाड़ छोड़कर माण्डू (मालवा) के शासक के यहाँ रहने लगा। हंसाबाई ने अपने भाई रणमल को बुला कर राज्य कार्य उसके हाथों में सौंप दिया। रणमल ने अनेक राठौड़ों को मेवाड़ के उच्च पदों पर नियुक्त किया। अपने पिता चूड़ा की मृत्यु के बाद रणमल मण्डोर का शासक भी बन गया किन्तु मेवाड़ में ही रहकर अपना प्रभाव बढ़ाता रहा।

मोकल ने भी विस्तारवादी नीति का अवलम्बन कर नागौर के शासक फिरोज खाँ को रामपुरा युद्ध में पराजित किया, जालौर व सांभर प्रदेश को पदाक्रान्त किया, गुजरात के शासक अहमदशाह को पराजित किया, जहाजपुर के दुर्ग को विजित किया तथा बूंदी के हाड़ाओं को पराजित किया। मोकल के इस विजय अभियान की पुष्टि मोकल व कुम्भलगढ़ के शिलालेखों से होती है। चित्तौड़ के समाधिश्वर मन्दिर के जीर्णोद्धार व एकलिंग के मन्दिर का परकोटा बनाकर उसने निर्माण कार्य भी कराया तथा उसके दरबार में अनेक शिल्पी व विद्वान् ब्राह्मण आश्रय में रहते थे। डॉ. गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में— मोकल ने अपनी विजयों में

1 कुम्भलगढ़ शिलालेख श्लोक 198–202
2 गौरीशंकर हीराचन्द ओझा उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1 p 243 259

ही मेवाड को एक शक्तिशाली राज्य नही बनाया वरन् अपने विद्या तथा कला प्रेम से भी उस बौद्धिक तथा कलात्मक प्रवृत्तियो का केन्द्र स्थापित किया।"[1]

मोकल की मृत्यु परस्पर वमनस्य के कारण बडे दुखद रूप से हुई। डॉ ओझा का कथन है कि 'जब महाराणा जीलवाडा के भाग मे गुजरात के सुल्तान अहमदशाह के आक्रमणो को रोकने के लिए डटा हुआ था कि महाराणा खेता (क्षेत्रसिंह) की उपपत्नी (खाती जाति की रखल स्त्री) के पुत्र, चाचा व मेरा ने अवसर पाकर उसकी हत्या कर दी। इस हत्या के कराने के पक्ष मे महपा पवार आदि कई सरदार भी सम्मिलित थे।"[2] डा गोपीनाथ शर्मा ने मोकल का मूल्यांकन करते हुए कहा है कि वास्तव मे मोकल अपने समय का अच्छा शासक था जिसने राजनीतिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र मे उन्नति कर भावी शासक कुम्भा के मार्ग को प्रशस्त बना दिया।[3]

इस प्रकार राणा हम्मीर व उसके उत्तराधिकारियो ने मेवाड राज्य के एक प्रादेशिक शक्ति के उदय मे अपनी विस्तारवादी एव साम्राज्यवादी नीति अपना कर उल्लेखनीय योगदान किया जिससे मेवाड राज्य की शक्ति को चरमोत्कर्ष पर पहुचाने वाले भावी शासको—कुम्भा व सांगा का मार्ग प्रशस्त हुआ। इन पूर्ववर्ती राणा शासको की नीति के कारण मेवाड की कठिनाइयो एव आन्तर एव अन्त-प्रादेशिक प्रतिद्वंद्विता का सूत्रपात भी हुआ जिनमे मेवाड के गृह कलह एव विद्रोहियो की गतिविधियाँ तथा गुजरात मालवा हाडोती एव मारवाड से प्रतिद्वंद्विता प्रमुख है। मेवाड के एक शक्तिशाली राज्य के रूप मे उदय होने मे दिल्ली के निबल सुल्तानो—अलाउद्दीन खिलजी के उत्तराधिकारियो एव सयद व तुगलक वश के शासको का योगदान भी कम महत्त्वपूर्ण नही था। महाराणा कुम्भा एव महाराणा सांगा का विस्तृत विवरण देना इस क्रम मे वांछनीय है।

महाराणा कुम्भा (1433–1468 ई)
(Maharana Kumbha)

प्रारम्भिक जीवन

कुम्भा (कुम्भकरण) महाराणा मोकल के पुत्र थे। उनकी माता परमार वशी सौभाग्य देवी थी। उनका जन्म 1403 ई मे हुआ था तथा मोकल की हत्या के बाद 15 वर्ष की आयु मे 1433 ई मे उनका राज्यारोहण हुआ था। उनके 6 भाई—क्षेमकरण, शिवा, सत्ता नार्थसिंह, वीरमदेव और राजधर थे तथा एक बहिन लालबाई थी। मोकल की हत्या के बाद कुम्भा का मामा राव रणमल चित्तौड आ गया और सरक्षक के रूप मे राज्य कार्य करने लगा। रणमल ने प्रतिज्ञा की कि वह मोकल के हत्यारो तथा चूडा को नष्ट करके चैन लेगा। इससे मेवाड

1, 3 पूर्वोक्त p 221

2 गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1, p 275-77

म राठौड व सीसोदिया सामन्ता के मध्य न गृह कलह को जन्म दिया जिससे कुम्भा की प्रारम्भिक कठिनाइया म वृद्धि हुई एव उन पर विजय प्राप्त करन हेतु वह चिन्तित रहा। कुम्भा ने अपन विजय अभियाना एव कला व संस्कृति की रक्षार्थ किए गए कार्यों स मवाड को एक प्रादेशिक शक्ति के रूप म चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया।

कीर्ति स्तम्भ एव कुम्भलगढ प्रशस्तिया स उसके द्वारा धारण किए गए अनेक विरुदो व उपाधिया तथा चारित्रिक विशेषताओ का पता चलता है। डा गापीनाथ शर्मा का कथन है कि सम्पूर्ण गुहिलवशी शासका म कुम्भा या कुम्भकर्ण ही एक ऐसा शासक था जा अनेक गुणा और विशेषताओ के प्रतीक विरुदा से विख्यात था।[1] इन विरुदो म रावराय राणेराय, दानगुरु परमगुरु चापगुरु अभिनव भारताचार्य हिन्दू सुरताण आदि प्रमुख थ। कुम्भा क विषय म कुछ अभिलखो व ख्याता स ज्ञात होता है कि उसके 1600 रानियाँ थी किन्तु इस तथ्य को अतिशयोक्ति मान कर सोमानी अस्वीकार करत हुए कहत है कि कुम्भा के महलो म इतन कक्ष नही थे कि जिनम 1600 रानियाँ अपनी सविकाओ सहित रह सकें।[2] वस्तुत कुम्भा द्वारा निर्मित साधारण महल भी इस मत की पुष्टि करत हैं। अभिलेखा म वर्णित यह तथ्य तो सत्य हो सकता है कि वह सुन्दर तथा प्रभावशाली व्यक्तित्व का था किन्तु राजरत्नाकर के अनुसार यह तथ्य कि वह प्रतिदिन महान् सुन्दर कन्या स विवाह करता था असत्य है। बी एम दिवाकर का कथन है कि यह कहना भी सत्य नही है कि कई राज कन्याओ न स्वय उसे वर मान लिया था। इस समय स्वयवर नही हात थ अत इसकी सम्भावना नही हो सकती।[3]

कुम्भा की मृत्यु दुखद परिस्थितियो म हुई। श्यामलदास के अनुसार 'कुम्भा के 11 पुत्र थ जिनम सबस बडा लडका उदयसिंह था। उसी न अन्त म एक दिन जब महाराणा कुम्भलमेर के किले म मालदव के मन्दिर के पास एक कुण्ड पर बठे थ तो उदयसिंह न पीछे स आकर उन का काम तमाम कर दिया।[4] यह घटना 1468 ई म हुई।

कुम्भा की प्रारम्भिक कठिनाइया एव उन पर विजय

बी एम दिवाकर का कथन है कि गद्दी पर बठत ही उस (कुम्भा को) अनक कठिनाइयो का सामना करना पडा। भाइयो का विरोध चाचा चूडा का विरोध पिता की हत्या का बदला मुसलमान सुल्ताना क आक्रमणो स चित्तौड की रक्षा आदि अनक कार्य थे जो कुम्भा क युवक कन्धो पर आ बठे। गद्दी पर

1 पूर्वोद्धृत पृ 221
2 रामवल्लभ सोमानी महाराणा कुम्भा p 39
3 बी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास p 95
4 श्यामलदास वीर विनोद p 317

बठत ही चाचा का विरोध और भाई का विरोध और अन्त म पुत्र का विरोध। य आन्तरिक विरोध मेवाड के विकास म काफी बाधक रहे।[1] डा गोपीनाथ शर्मा के शब्दों म 'जब महाराणा कुम्भा मेवाड का स्वामी बना तो उसन पाया कि उसे पिता तथा प्रपितामह के समय की कई समस्याओ का हल करना है। बिना उन समस्याओ क हल किए उसके लिए सम्भव नहीं था कि वह अपने राज्य का विस्तार कर सके या उसके राजत्व काल म ऐसी स्थिति पदा कर सके जो साहित्य और कला की उन्नति म सहयोगी हो। इसलिए उसन सबसे पहले ऐसे सामन्तो की समस्या को हाथ म लिया जो दशद्रोही थ और जिन्होंने अपनी पद और प्रतिष्ठा का दुरुपयोग करना प्रारम्भ कर दिया था।[2] अत सवप्रथम कुम्भा ने अपनी प्रारम्भिक कठिनाइयो पर विजय प्राप्त करन हेतु निम्नांकित उपाय किए—

(1) चाचा और मेरा से प्रतिशोध—चाचा और मरा कुम्भा के प्रपितामह खेत (क्षेत्रसिंह) की उप पत्नी क पुत्र थ जिन्होंने कुछ सामन्तो, जिनका नतृत्व महपा पवार कर रहा था को मिला कर षडयन्त्र कर मोकल की हत्या कर दी थी। हत्या का कारण कुछ अभिलेखो जस कीर्ति स्तम्भ अभिलेख द्वारा प्रकट होता है। चाचा और मरा इतन मदांध हो गए थ कि एक समय जब मोकल ने इनस जगल मे प्रसगवश किसी वृक्ष का नाम पूछ लिया तो व इस ताना समझ गए क्योकि इनकी माता खातिन थी। इस अपमान का बदला लेने के लिए उन्होंन मोकल को मार दिया।[3] महाराणा कुम्भा न चाचा व मेरा को दण्डित करन हेतु दक्षिण के पाई पहाडो मे छिप हुए इन पर आक्रमण हेतु सेना भेजी तथा वहाँ के भीलो को अपनी ओर मिला कर चाचा व मरा की हत्या करवा दी। चाचा का पुत्र एक्का व महपा पंवार डर कर माण्डू क सुलतान की शरण म पहुँच गए और सुल्तान को कुम्भा क विरुद्ध भडकान के अतिरिक्त व कुछ न कर सके। ओझा का कथन है कि—' इस प्रकार तीन पीढ़ियो स बनी हुई समस्या को कुम्भा ने अपनी सूझबूझ म समाप्त कर दिया।[4]

(ii) राव रणमल के प्रभाव की समाप्ति—कुम्भा के पितामह लाखा न वृद्धावस्था म राठौड रणमल की बहन हसाबाई स विवाह कर मेवाड के लिए कठिनाई पदा कर दी थी। जब हसाबाई का पुत्र अर्थात् कुम्भा के पिता मोकल का सरक्षक बनकर सलूबर के रावत चूडा न अत्यन्त स्वामिभक्ति स राज्य काय चलाया किन्तु हसाबाई के सन्देह करन उसके भाई अज्जा को मेवाड छोडकर माण्डू चले जाने पर विवश करने तथा उसके अन्य भाई राघवदेव (जो सीसोदिया सामन्तो का नेता था) को षडयन्त्र द्वारा मरवा देन पर चूडा मेवाड छोडकर माण्डू के सुल्तान के पास रहन लगे। हसाबाई न अपने भाइ राठौड रणमल को चित्तौड बुला कर

1 बी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास p 95
2-3 पूर्वोद्धृत p 222
4 गौरीशकर हीराचन्द ओझा उदयपुर राज्य का इतिहास भाग-1 p 265

मेवाड़ का राज्य कार्य उसे सौंप दिया। एक्का और महपा पँवार भी माण्डू से आकर क्षमा याचना के बाद मेवाड़ में रहने लगे। रणमल की स्वच्छाचारिता से कुपित होकर तथा मेवाड़ के सीसोदिया सामन्तों ने चूड़ा व अज्जा को मेवाड़ बुला कर रणमल के विरुद्ध षडयन्त्र किया। इन्होंने रणमल की प्रेयसी दासी भारमली को अपनी ओर मिला कर 1438 ई. में रणमल की हत्या करवा दी। यह कार्य भी कुम्भा की कूटनीति से ही सम्भव हो सका। डा. गोपीनाथ शर्मा का मत है कि—'महाराणा ने रणमल का प्रकट रूप से तो कोई विरोध नहीं किया। बिना कुम्भा की आज्ञा के चूड़ा और अज्जा का मेवाड़ में लौटना सम्भव नहीं था। यह सभी कार्यवाही महाराणा की दूरदर्शिता के परिणामस्वरूप थी। दो पीढ़ियों से राठौड़ों का प्राबल्य जो मेवाड़ राज्य में बढ़ता जा रहा था उसे समाप्त करने का श्रेय कुम्भा की कूटनीति को है।'[1]

रणमल की मृत्यु पर टिप्पणी करते हुए सामानी का मत है कि—रणमल की मृत्यु राघवदेव की मृत्यु का बदला मात्र प्रतीत होता है।[2] बी. एम. दिवाकर ने रणमल की मृत्यु से उत्पन्न समस्या का उल्लेख इस प्रकार किया है—'रणमल दोषी था या नहीं किन्तु उसकी मृत्यु ने राठौड़ा और सीसोदिया के दीर्घकाल से चले आ रहे अच्छे सम्बन्धों को समाप्त कर दिया। राठौड़ों को जोधपुर पर अधिकार करने में आगामी 15–16 वर्ष तक संघर्ष करना पड़ा।'[3] किन्तु डॉ. गोपीनाथ शर्मा की दृष्टि से यह कृत्य मेवाड़ की भावी योजनाओं के लिए आवश्यक था—पाँच वर्ष की अवधि में ही चाचा मेरा तथा रणमल के कारण पैदा किए जाने वाली समस्याओं का हल कर महाराणा ने अपने घरेलू बखेड़ों का इतिश्री कर दी और भविष्य में किए जाने वाली योजनाओं के लिए मार्ग सुगम बना दिया। कम से कम इन तीनों समस्याओं के निपटने से महाराणा को अपने राज्य में संगठित शक्ति बनाने का अवसर मिल गया।[4]

इस प्रकार कुम्भा प्रारम्भिक कठिनाइयों में घरेलू समस्याओं के समाधान में सफल रहा। अन्य कठिनाइयों—अधीन राज्यों की पुनः स्वाधीनता के प्रयास तथा पड़ोसी राज्यों—मालवा व गुजरात के आक्रमणों से मेवाड़ की रक्षा करने को उसने किस प्रकार हल किया इसका विवरण अन्तर व अन्तःप्रादेशिक प्रतिद्वंद्विता के शीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जा रहा है।

मालवा व गुजरात से अन्तर प्रादेशिक प्रतिद्वंद्विता
(Inter Regional Rivalry with Malwa and Gujrat)

मेवाड़–मालवा प्रतिद्वंद्विता

प्रतिद्वंद्विता के कारण—मेवाड़ और मालवा के सुल्तान के मध्य प्रतिद्वंद्विता व संघर्ष के प्रमुख कारण अग्रांकित हैं—

1 4 पूर्वोद्धृत p 224
2 राव ब लभ सामानी महाराणा कुम्भा, पृ 95
3 बी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास, पृ 102

(i) केन्द्रीय शक्ति की दुर्बलता—अलाउद्दीन खिलजी के बाद उसके उत्तराधिकारी सय्यद वंश तथा तुगलक वंश के सुल्तान अलाउद्दीन द्वारा विजित प्रदेशों का अपने अधिकार में न रख सके। धीरे धीरे प्रान्तीय शासक केन्द्रीय अधिकार से मुक्त हो स्वतन्त्र सत्ता के रूप में अस्तित्व में आ गये थे जो अपनी विस्तारवादी नीति के कारण परस्पर संघर्षरत रहने लगे। मालवा, गुजरात व मेवाड भी इसके अपवाद न थे। डा. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव ने कहा है कि—'दिल्ली सल्तनत तेजी से लडखडा रही थी अतः इस तुर्क विजेता (तैमूर) को उनकी दुर्बलता का लाभ उठाकर महत्वाकांक्षा पूरी करने का अवसर मिल गया।[1] डा. जी. एन. भार्गव के शब्दों में—मालवा का शासक महमूद के नियन्त्रण से मुक्त होकर अपने राज्य का विस्तार करने लगा और दूसरी ओर महाराणा कुम्भा को भी उपयुक्त अवसर मिल गया कि वह पडौसी राज्यों पर विजय प्राप्त करके मेवाड साम्राज्य को सुदृढ बना ले। वास्तव में कमजोर दिल्ली ने इन दोनों महत्वाकांक्षी शासकों को खुला छूट दे दी। यदि तैमूर का आक्रमण और फलस्वरूप दिल्ली सल्तनत का पतन नहीं होता तो सम्भवतः ये दो सांड (कुम्भा और महमूद) कभी नहीं टकरा पाते।[2]

(ii) विस्तारवादी नीति—मेवाड व मालवा के शासकों की सीमा विस्तार की महत्वाकांक्षा ने उन्हें परस्पर संघर्ष हेतु विवश कर दिया।

(iii) सीमावर्ती राज्यों की अस्थिर निष्ठाएँ—मेवाड व मालवा के सीमा तट पर स्थित छोटे राज्य जैसे माण्डलगढ, जहाजपुर, रिजालिया, नागौर, बदनौर, डूंगरपुर आदि छोटे राज्यों की निष्ठाएँ मालवा व मेवाड के प्रति अस्थिर था व बदलती रहती थी। अतः मेवाड व मालवा उन्हें हस्तगत करना चाहते थे। इनके आन्तरिक झगडों में हस्तक्षेप कर मालवा व मेवाड के शासक परस्पर संघर्ष करते रहे।

(iv) मेवाड के असन्तुष्ट व विद्रोही सरदारों को मालवा में शरण देना—मेवाड के असन्तुष्ट सरदार चाचा मेरा महपा पंवार चूडा आदि ने मालवा के सुल्तान के यहाँ शरण लेकर उसे मेवाड के विरुद्ध भडकाते रहे।

(v) मालवा के उत्तराधिकार के संघर्ष में मेवाड का हस्तक्षेप—जब मालवा के सुल्तान होशंगशाह की मृत्यु हुई तो उत्तराधिकार के प्रत्याशी उमर खाँ की कुम्भा ने सहायता की जिससे मालवा के मन्त्री महमूद खिलजी ने वहाँ का शासक बन कुम्भा से संघर्ष किया।

मालवा मेवाड संघर्ष

उपरोक्त कारणों से उत्प्रेरित होकर राणा कुम्भा व मालवा के सुल्तान महमूद खिलजी के मध्य संघर्ष हुआ। इनमें से प्रमुख संघर्ष अग्रांकित उल्लेखनीय हैं—

1 डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव दिल्ली सल्तनत
2 डा. जी. एन. भार्गव राजस्थान का इतिहास, p. 251

(i) **1437ई मे सारगपुर का युद्ध**—मवाड के विद्रोही सरदार महपा पँवार को वापस भेजने की जब राणा कुम्भा ने महमूद खिलजी से माँग की तो सुल्तान ने उस अस्वीकार कर दिया। अत कुम्भा ने दसोर, जावरा आदि स्थानो को जीतता हुआ सारगपुर पहुचा जहाँ महमूद खिलजी से युद्ध हुआ जिसमे सुल्तान की हार हुई और वह बदी बनाकर चित्तौड मे 6 माह तक रखा गया किन्तु उसे बिना दण्डित किए मुक्त कर दिया गया। नगसी री ख्यात व वीर विनोद' से इसकी पुष्टि होती है। टाड ने सुल्तान को छोड देना महाराणा की राजनीतिक अदूरदर्शिता बताया है। इसकी पुष्टि ओझा व हरविलास शारदा ने की है।[1] किन्तु डा गोपीनाथ शर्मा का मत है कि— महाराणा ने बडी गहराई से सोचा था और इसीलिए महमूद को मुक्त कर कुछ समय के लिए वह मालवा की ओर से शाति का अनुभव करना चाहता था। थोडा ही समय जो इस नीति से महाराणा को मिल गया वह पुन उसके सैनिक बल के सगठन के लिए पर्याप्त था। ऐसी स्थिति मे महाराणा की यह नीति उसकी उदारता और स्वाभिमान तथा दूरदर्शिता की परिचायिका है।

(ii) **1443 ई मे मालवा का मेवाड आक्रमण**—अपनी पूर्व पराजय का प्रतिशोध लेने हेतु महमूद ने कुम्भलगढ पर आक्रमण किया। 7 दिन के सघर्ष के बाद मवाड का सेनापति दीपसिंह मारा गया। महमूद ने बाण माता के मदिर को नष्ट भ्रष्ट किया। इसके बाद महमूद ने चित्तौड को जीतना चाहा किन्तु उसे सफलता न मिली और वह माण्डू लौट गया। राणा ने उसका पीछा किया और उसे हानि पहुचाई।

(iii) **1446 ई मे महमूद का माण्डलगढ पर आक्रमण**—इस आक्रमण मे राणा के प्रतिरोध के कारण महमूद को सफलता न मिली। राणा मे सधि हुई और महमूद अजमेर की ओर बढ गया किन्तु लौटते समय उसने चित्तौड लेने का असफल प्रयत्न किया।

(iv) **1456ई मे महमूद का माण्डलगढ पर दूसरा आक्रमण**—फरिश्ता के अनुसार इस आक्रमण को राणा ने सुल्तान को दस लाख टके देकर लौटा दिया।

(v) **1457 ई मे महमूद का माण्डलगढ पर तीसरा आक्रमण**—इस आक्रमण मे महमूद को माण्डलगढ पर अधिकार करने मे सफलता मिली क्योकि कुम्भा गुजरात के युद्ध मे व्यस्त था। किन्तु कुछ समय बाद राणा ने माण्डलगढ पुन हस्तगत कर लिया।

(vi) **1459 ई मे महमूद का कुम्भलगढ पर आक्रमण**—यह आक्रमण मालवा गुजरात ने सम्मिलित रूप से किया था किन्तु सफलता न मिली।

1 टाड राजस्थान भाग 1 p 315
ओझा उदयपुर राज्य का इतिहास भाग 1 p 287
हरविलास शारदा महाराणा कुम्भा p 53-59
2 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास p 228

(vii) 1467 ई का आक्रमण—इस आक्रमण म महमूद जावर तक आया किन्तु कुम्भा ने उसे भगा दिया।

उपरोक्त आक्रमणो म मुस्लिम इतिहासकारो विशेषत फरिश्ता ने कुम्भा की पराजय व उसके द्वारा महमूद को धन देकर विदा करन का उल्लख किया है।[1] किन्तु ओझा इसका खण्डन कर महमूद की कुम्भा स पराजय बतलाते हैं। डा गोपीनाथ शमा ने भी इसी मत की पुष्टि करते हुए कहा है कि— यह मानना कि महाराणा की पराजय होती रही और महमूद विजयी होता रहा ठीक नही है। यह उल्लेख महमद के आक्रमणो के अभिप्राय और महाराणा की युद्ध शली पर प्रकाश डालता है। महमूद केवल मात्र इधर उधर लूट खसोट कर लौट जाता था और उस मवाड के सनिक केन्द्रो को लन म सफलता नही मिलती थी। इन अभियानो म मवाड की एक इच भूमि की भी हानि नही हुई। यह महाराणा क स य सगठन का प्रमाण है।[2] वस्तुत छापामार युद्ध नीति से कुम्भा महमूद का छकान मे सफल रहा था।

मेवाड–गुजरात प्रतिद्वन्द्विता

कारण—मवाड गुजरात पतिद्वद्विता के कारण भी लगभग वही थ जो पूव म मवाड मालवा प्रतिद्वद्विता के थे। मवाड गुजरात सघप के तात्कालिक कारणो का उल्लख करत हुए डा गुप्ता व डा ओझा का कथन है कि— नागौर के तत्कालीन शासक फिराज खाँ की मृत्यु हान पर और उसके छोटे पुत्र मुजाहिद खाँ द्वारा नागौर पर अधिकार करने पर बडे लडके शम्स खाँ ने नागौर प्राप्त करन म कुम्भा स सहायता माँगी। मुजाहिद को वहाँ से हटाकर महाराणा न शम्स खाँ को गद्दी पर बिठाया किन्तु गद्दी पर बठत ही शम्स खा अपन सारे वायद (राणा का कर दना व नागौर दुग की मरम्मत न करना) भूल गया और उसने सधि की शर्तों का उल्लघन शुरू कर दिया। स्थिति की गम्भीरता को समझ कर कुम्भा न शम्स खाँ को नागौर स निकाल कर उस अपन अधिकार मे कर लिया। शम्स खा भाग कर गुजरात पहुँचा और अपनी लडकी की शादी सुल्तान (कुतबुद्दीन) से कर गुजरात स सनिक सहायता प्राप्त की और महाराणा की सेना के साथ युद्ध करने का बढा परन्तु विजय का सेहरा मेवाड के सिर पर बधा।[3] अत नागौर के प्रश्न को लेकर मवाड गुजरात का सघप हुआ।

मेवाड गुजरात सघप

(1) गुजरात के सुल्तान कुतबुद्दीन न उपरोक्त पराजय के बाद प्रतिशोध लेन हतु 1456 ई म अपने सनापति इमादलमुल्क को आबू भेजा तथा स्वय कुम्भलगढ पर आक्रमण हतु गया। आबू म उसके सनापति की हार हुई। कुतबुद्दीन ने

1 ब्रिग्स फरिश्ता, भाग 4, p 208–10
2 पूर्वोद्धत p 229
3 डा गुप्ता व डा ओझा राजस्थान का इतिहास—एक सर्वेक्षण, p 48

मिराही जीत कर कुम्भलगढ का घेरा डाला किंतु नागौर विजय के बाद लौट कर राणा ने कुतबुद्दीन का दृढता से सामना किया। निराश होकर कुतबुद्दीन वापस लौट गया। मुस्लिम इतिहासकार फरिश्ता ने लिखा है कि राणा से बहुत से रुपये और रत्न मिलने पर सुल्तान गुजरात लौटा था।[1] तारीख अलफी व 'मिराते सिकन्दरी ग्रंथो से पता चलता है कि कुतबुद्दीन का आक्रमण इतना भयंकर था कि अत्यधिक जन क्षति हुई तथा राणा द्वारा नागौर पर चढाई न करने व आश्वासन तथा अच्छी रकम देने के बाद मवाड को मुक्ति मिली। किंतु मुस्लिम इतिहासकारो के इस विवरण को एक पक्षीय मानते हुए ओझा तथा डा गोपीनाथ शर्मा ने शिलालेखो (कीर्ति स्तम्भ प्रशस्ति) व तर्कों के आधार पर कहा है कि कुम्भा की ही जीत हुई थी।

(ii) 1457 ई म गुजरात के सुल्तान कुतबुद्दीन व मालवा के सुल्तान महमूद खिलजी म चांपानेर स्थान पर संधि हुई जिसम तय किया गया कि दोनो की संयुक्त सेनाए मवाड पर आक्रमण करेंगी तथा विजय के बाद मवाड का दक्षिणी भाग गुजरात म तथा शेष भाग मालवा म मिला लिया जाय। कुतबुद्दीन आबू को जीतता हुआ आगे बढा व मालवा सुल्तान महमूद अपनी ओर से बढा। फरिश्ता ने राणा की पराजय बतलाई है किंतु कीर्ति स्तम्भ म राणा कुम्भा की विजय अंकित की गई है।[2] रसिक प्रिया ग्रंथ से भी कुम्भा की विजय की पुष्टि होती है।

(iii) 1458 ई म कुम्भा ने नागौर का पुन अधिकार म किया। श्यामलदास के अनुसार— नागौर का हाकिम शम्स खाँ और मुसलमानो द्वारा गौ वध बहुत होने लगा था मालवा के सुल्तान के मेवाड आक्रमण के समय शम्स खाँ ने उसकी राणा के विरुद्ध सहायता की थी तथा शम्स खाँ ने किले की मरम्मत शुरू कर दी थी। अत राणा ने नागौर पर आक्रमण कर उसे जीत लिया।[3]

(iv) 1458 ई म गुजरात के सुल्तान का कुम्भलगढ का पुन आक्रमण हुआ किंतु वह पुन हार कर वापस लौट गया तथा 25 मई 1458 म उसकी मृत्यु हो गई।

(v) कुतबुद्दीन के बाद महमूद बेगडा गुजरात का सुल्तान बना। उसने 1459 ई म जूनागढ पर आक्रमण किया। जूनागढ का शासक कुम्भा का दामाद था अत कुम्भा ने उसकी सहायता कर बेगडा को हराकर भगा दिया।

इस प्रकार मालवा व गुजरात म मेवाड की अंतर प्रांतीय प्रतिद्वंद्विता चलती रही जिसम कुम्भा अपनी युद्ध नीति म सफल रहा। डॉ गोपीनाथ शर्मा के अनुसार— इस सम्पूर्ण युद्ध की परिस्थिति म हम महाराणा कुम्भा को सुरक्षा नीति का अनुयायी पाते हैं। वह जानता था कि मेवाड जस राज्य के लिए सुदृढ

1 ब्रिग्स (फरिश्ता) भाग 4 p 41
2 कीर्ति स्तम्भ प्रशस्ति श्लो 171
3 श्यामलदास वीर विनोद

गुजरात और मालवा तक अपना राज्य विस्तारित करना उचित नहीं होगा अतएव उसने कभी (अपनी सीमा से आगे) बढ कर युद्ध की व्यवस्था न बनाई। मेवाड का प्राकृतिक स्थिति से लाभ उठाकर सनिक केन्द्रो म मोर्चे बदी करना शत्रु को भीतरी भाग म घुसने का अवसर देना और लौटती हुई फौज का पीछा कर खदेडना यही उस समय के लिए उपयुक्त नीति थी। इस अथ म कुम्भा ने लम्बे समय तक इन शक्ति सम्पन्न राज्यो से टक्कर ली। जिस युद्ध का प्रारम्भ कुम्भा ने किया उसे लम्बा बनाय रखा और अपने समय मे भी निर्णायक युद्ध नहीं होने दिया।[1] गुजरात व मालवा के प्रति ये कथन कुम्भा की सामरिक नीति के परिचायक है।

मारवाड व हाडौती से अन्त प्रादेशिक प्रतिद्वन्द्विता
(Inter Regional Rivalry with Marwar & Harauti)

मारवाड से अन्त प्रादेशिक प्रतिद्वन्द्विता

पूव म बतलाया जा चुका है मारवाड (मण्डोर) की गद्दी पर 1427 ई मे अधिकार करने के पूव तथा पश्चात् रणमल मेवाड म सर्वेसर्वा बन गया था किन्तु सीसोदिया सामन्तो के षडयन्त्र के कारण उसकी प्रेयसी भारमती द्वारा उसका वध 1438 ई म करा दिया गया था। चूडा को माण्डू से बुलवाकर यह षड्यन्त्र किया गया था जिसके लिए कुम्भा का समथन प्राप्त था। अपने पिता रणमल की हत्या के बाद जोधा चित्तौड से भाग कर मारवाड के एक गाँव काहुनी म रहने लगा। चूडा के नेतृत्व म मेवाड की सेना ने मण्डोर पर अधिकार कर लिया तथा वहाँ का प्रबन्ध उसने अपने पुत्रो—कुन्तल सांजा सूवा तथा भाला विक्रमादित्य के हाथो म सौंप दिया। जोधा मण्डोर लेने का प्रयत्न करता रहा। उसने राणा के समथको को अपनी ओर मिला लिया। उसे सेवाड़ी के रावत लूणा व हरबू सांखला से काफी सहायता मिली और 1453 ई म उसने मण्डोर पर पुन अधिकार कर लिया।[2]

मारवाड मेवाड की यह अन्त प्रादेशिक प्रतिद्वन्द्विता राठौडो व सीसोदियो के लिए हानिकारक थी। डा गोपीनाथ शर्मा ने इस प्रतिद्वन्द्विता के अन्त का विवरण देते हुए कहा है कि—'इधर कुम्भा भी गुजरात व मालवा अभियान मे लगा हुआ था और चाहता था कि जोधपुर से मैत्री सम्बन्ध बना ले। उधर हमीराई का भी आग्रह था कि जोधपुर पर अधिक समय तक अधिकार न रखा जाए। इन विविध कारणो को लेकर मेवाड मारवाड म सन्धि हो गई। जोधा ने अपनी पुत्री शृगार देवी का विवाह महाराणा कुम्भा के पुत्र रायमल के साथ कर बैर का समाप्त कर दिया। मेवाड के लिए लगभग 15 वष का मारवाड पर अधिकार

1 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास, p 231
2 मारवाड की ख्यात भाग 1 p 41–43

राजनीतिक प्रभाव को बढाने के लिए लाभप्रद सिद्ध हुआ। [1] डा ओझा ने भी यही मत व्यक्त किया है।

हाड़ौती से अन्त प्रादेशिक प्रतिद्वन्द्विता

हाडौती का बूंदी राज्य मेवाड के पूर्व में स्थित है। कुम्भा ने राज्य विस्तार हेतु पूर्वी भागो पर विजय की ओर ध्यान दिया। रणकपुर लेख एव कीर्ति स्तम्भ प्रशस्ति मे हाडौती विजय का उल्लेख किया गया है। यद्यपि बूंदी के शासक मेवाड के सामन्त थे किन्तु जब वे स्वतन्त्र हो गए तो कुम्भा ने अपनी सेना भेजकर गागरौन बम्बावदा जहाजपुर और माण्डलगढ जीत लिए और बूंदी के शासक को खिराजगुजार घोषित कर उसे अपने राज्य का स्वामी रहने दिया। मेवाड के सीमान्त भाग में मित्र रखकर कुम्भा ने अपनी विचारशील नीति का परिचय दिया। [2] कुम्भा के समकालीन बूंदी के हाड़ा नरेश बरीशाल व भाण थे। बूंदी के राजा भाण ने जब अपने भाई सांडा (कोटा के शासक) के विरुद्ध मालवा के सुल्तान से मदद मांगी तो कुम्भा ने सांडा की सहायता कर भाण को बूंदी से 12 मील दूर खटकड गांव में पराजित किया तथा मेवाड के पूर्वी पठारी इलाके अपने राज्य में मिला लिए। बी एम दिवाकर का कथन है कि— कुम्भा की यह नीति थी कि वह हिन्दू राजाओं को मुसलमानों की अधीनता व गुलामी से रोकता था। [3]

कुम्भा की अन्य विजये

इस अन्त प्रादेशिक प्रतिद्वन्द्विता में कुम्भा की अन्य विजयें भी कम महत्त्व पूर्ण नहीं थी। उसने अपनी प्रादेशिक प्रभुसम्पन्नता स्थापित करने हेतु उपरोक्त विजयों के अतिरिक्त गागरोण (1437 ई) नागौर (1458 ई) सिरोही (1457 ई) बदनौर के मेर मोजत डूगरपुर (1446 ई) रणथम्भौर (1442 ई) आमेर टोंक अलवर व सवाई माधोपुर के क्षेत्रों को भी जीत कर उन्हें अपने अधीन किया। *कुम्भलगढ प्रशस्ति में कुछ अन्य विजित स्थानों के नाम* भी दिए गए है जैसे नारदीय नगर वाग्या नगरी हमीरपुर वायसपुर धान्य नगर वीसल नगर और मिहपुरी।

महाराणा कुम्भा का मूल्यांकन—उसकी उपलब्धियां
(Evaluation of Maharana Kumbha—His Achievements)

महाराणा कुम्भा के विजय अभियानों एव पडौसी मुस्लिम राज्यो—गुजरात व मालवा के विरुद्ध संघर्ष से जिनका विवरण दिया जा चुका है, वह एक महान् वीर सेनानायक एव साम्राज्य निर्माता सिद्ध होता है। डा वी एस भार्गव के शब्दों में— मेवाड के सीसोदिया राजाओं में राणा को छोडकर कोई भी राजा कुम्भा के समान इतना शक्ति-सम्पन्न नहीं था। वह वर्षों तक मुसलमानों के साथ युद्ध करता रहा और उनमें उसे निरन्तर सफलता प्राप्त हुई। उसकी सफलताओं

1–2 डा गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास p 226

3 बी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास, p 104

म उसका व्यक्तित्व निहित था।"[1] हरविलास शारदा के अनुसार—'कुम्भा राणा प्रताप व सांगा से भी अधिक प्रतिभावान था। उसने मेवाड के गौरवशाली भविष्य का निर्माण किया।"[2]

•महाराणा कुम्भा की सांस्कृतिक उपलब्धियां भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण थी जितनी कि उसकी सैनिक उपलब्धियां। वह युद्ध व शांति दोनों म अद्वितीय व्यक्तित्व का शासक था। वह एक महान् निर्माता था जिसने अनेक दुर्गों (कुम्भल गढ सिरोही क निकट बसन्ती दुग आबू म अचलगढ दुग आदि), मंदिर (बाडौली का शिव मन्दिर, चित्तौड का सूय मन्दिर व अद्भुत जी का मंदिर नागदा के सास बहू के मंदिर आदि) तथा चित्तौड म कीति स्तम्भ का निर्माण कराया। इनकी स्थापत्य कला का विवेचन आगे सम्बंधित अध्याय म किया जायेगा। कुम्भा एक महान् साहित्यकार एव साहित्यकारो का आश्रयदाता था। उसकी स्वय की रचनाओ म गीत गोविन्द की टीका रसिक प्रिया टीका चडी शतक टीका व सगीतराज हैं। उसके आश्रय म अनेक विद्वान रहत थ जसे शिल्पी मण्डन कवि आत्री व महेश कीति, कन्हा व्यास व अनेक जन कवि जिन्होंने अनेक ग्रन्थो की रचना की। अनेक इतिहासकारो न कुम्भा का मूल्यांकन करत हुए उसके गुणो की भूरि-भूरि प्रशसा की है। अन्त म सोमानी का यह कथन उल्लेखनीय है—'कुम्भा की सफलता का कारण उसका विशिष्ट व्यक्ति व था। उसके व्यक्तिगत गुण उस मानव से प्रति मानव बनाते हैं और इसी कारण पश्चात् कालीन लेखको न उसम कई अलौकिक गुणो तक की कल्पना की है।[3]

महाराणा सांगा (1509–1528 ई)
(Maharana Sanga)

प्रारम्भिक परिचय

कुम्भा की हत्या 1468ई म उसके पुत्र ऊदा ने कर दी थी। कुम्भा के बाद उसक पुत्र रायमल न पितृहता ऊदा को पराजित कर 1473 ई म राज्यारोहण किया। ऊदा भाग कर माण्डू चला गया जहाँ उसकी मृत्यु हो गई। रायमल ने अपने पिता कुम्भा की तुक विरोधी नीति का पालन किया। उसने माण्डू के सुल्तान को माण्डलगढ म पराजित किया तथा 1503 ई उसके दूसरे आक्रमण को भी विफल किया। उसके पुत्रो के परस्पर विरोध के कारण मेवाड म अराजकता फल गई। उसके पुत्र पृथ्वीराज व सग्रामसिंह (सांगा) मे सघष हुआ जिसमे सांगा की एक आँख फूट गई और वह अजमेर के कमचन्द पंवार के आश्रय मे रहा। पृथ्वीराज ने अपने चाचा सारगदेव की हत्या कर दी किन्तु पृथ्वीराज व उसके भाई जयमल की

1 डॉ जी एन शर्मा राजस्थान का इतिहास p 169
2 हरविलास शारदा महाराणा कुम्भा
3 रामवल्लभ सोमानी महाराणा कुम्भा

मृत्यु मोलकिया से युद्ध करते हो गई। अत रायमल के शेष बच तीसरे पुत्र सांगा को बुलाकर 1509 ई म उसका राज्यारोहण किया गया।

राणा सांगा न मेवाड का प्रभुत्व चरमोत्कर्ष पर पहुचाया। मुखवीर सिह गहलोत का यह कथन उल्लेखनीय है कि— मवाड के महाराणाओ म ये सबम अधिक प्रतापी और योद्धा हुए। अपन पुरुषाथ द्वारा इ होने मवाड राज्य को उन्नति के शिखर पर पहुचाया था।[1] स्मिथ के शब्दो मे— वास्तव म सम्पूण भारत म एसा कोई राजा नही था जो राणा सांगा के सामन सिर उठान का साहस कर सकता।'[2] डा आशीवादीलाल श्रीवास्तव का मत है कि— राणा सांगा के समय म मेवाड अपन वभव के शिखर पर पहुँच गया था।[3] इन कथना का प्रमाण राणा सांगा की उपलब्धिया के आगे किए जा रहे विवरण स मिलगा।

सांगा की मृत्यु 30 जनवरी 1528 ई को बसवा नामक स्थान पर हो गई थी। उनके व्यक्तित्व का चित्रण श्यामलदास न इन शब्दो म किया है— महाराणा सांगा का मझला कद मोटा चेहरा बडी आँखें लम्बे हाथ और गहुआ रग था। ये दिल के बडे मजबूत थे। इनकी जिदगी म इनके बदन पर चौरासी जख्म शस्त्रो के लगे थ। एक आँख बेकाम एक हाथ कटा हुआ और एक पर लगडा ये भी लडाई की निशानियाँ उनके अग पर मौजूद थी। एस व्यक्तित्व वाले राणा सांगा की सनिक उपलब्धियाँ अनुपम थी।

प्रारम्भिक कठिनाइया

राज्यारोहण के पूव सांगा का उनके ज्येष्ठ भ्राता पृथ्वीराज स सघर्ष एव कमच द पवार के यहाँ अज्ञातवास करने का उल्लेख किया जा चुका है। राज्यारोहण के पश्चात् सांगा की कठिनाइया का वणन करते हुए डा गोपीनाथ शमा का कथन है कि— उसका राज्य चारो ओर स शत्रुओ स घिरा हुआ था। दिल्ला म लोदी वश का सुल्तान सिकन्दर, गुजरात म महमूदशाह बेगडा और मालवा म नासिरुद्दीन राज्य करत थ। वस्तुत ये एकाकी रहन की स्थिति म अधिक शक्तिशाली न थ परन्तु इनका आपसी सगठन मवाड के लिए हानिकारक था। इन राज्यो स उत्तर पूर्वी और दक्षिण तथा पश्चिमी मवाड की सीमाओ पर आक्रमण का भय था। इस स्थिति का सन्तुलित करन के लिए महाराणा न अपन हितैषी कमच द पवार को रावत की पदवी देकर सम्मानित किया और अजमेर परवतसर माण्डल फूलिया बनेडा आदि 15 लाख की वार्षिक आय के परगने जागीर म दिए। इस प्रकार उत्तर पूर्वी मेवाड के भू भाग म एक शक्तिशाली सामन्त स्थापित कर सांगा ने अपनी सीमा की सुरक्षा कर ली। दक्षिण और पश्चिमी मवाड की सुरक्षा हेतु उसन सिरोही तथा वागड के शासको को अपना मित्र बनाया

1 मुखवीरसिह गहलोत राजस्थान का सक्षिप्त इतिहास
2 *Smith* The Oxford History of India प 322
3 डा आशीर्वा लाल श्रीवास्तव दिल्ली सल्तनत

तथा ईडर के राज्य सिंहासन पर अपने प्रशसक रायमल को बिठाया। मारवाड का शासक भी उसका सहयोगी बन गया।[1]

केन्द्रीय सुल्तान शासको का उल्लेख करते हुए डा वी एस भार्गव ने कहा है कि— 'सौभाग्य स सांगा के समय दिल्ली की गद्दी पर इब्राहीम लोदी जसा निबल सुल्तान विराजमान था। उसे भी राणा सांगा की बढती हुई शक्ति से चिन्ता हुई और खातोली के युद्ध क्षेत्र मे दिल्ली सल्तनत की सेनाओ स शक्ति परीक्षण किया। 1526 ई म इब्राहीम लोदी की पराजय और मृत्यु के साथ बाबर न भारत म मुगल साम्राज्य स्थापित कर लिया। इसके विरुद्ध भी राणा सांगा ने 1527 ई म सशस्त्र युद्ध लडा।'[2]

महाराणा सांगा के नेतृत्व मे मेवाड राज्य का उत्थान
(Rise of Mewar State under Mabarana Sanga)
or
राणा सांगा की उपलब्धियां
(Achievements of Rana Sanga)

राणा सांगा की सैनिक उपलब्धियो का सक्षिप्त विवरण निम्नांकित है—

राणा सागा के मालवा से सम्बन्ध
(Relations of Rana Sanga with Malwa)

सघष के कारण—मालवा का शासक महमूद खिलजी राणा सांगा का प्रतिद्वन्द्वी था। अत उन दोना मे सघष हुआ जिसके कारण निम्नांकित थ—

(i) मालवा और मेवाड की शत्रुता 1401 ई म मालवा के दिल्ली सल्तनत की अधीनता से मुक्त होत ही आरम्भ हा गई थी। इस परम्परागत शत्रुता के कारण मेवाड के राणा व मालवा क सुल्तान परस्पर सघषरत बने रहे।

(ii) दोना ही राज्य विस्तारवादी नीति के समथक थे अत सघष अनिवाय था।

(iii) मालवा व मेवाड क्रमश मुस्लिम व हिन्दू धम के पोषक व रक्षक थ।[3]

(iv) मालवा क उत्तराधिकार के युद्ध म राणा सांगा द्वारा मालवा सुल्तान के वजीर एव विरोधी मेदिनी राय को सहायता देन व गागरोन च देरी आदि प्रदेशो की जागीर देने स सुल्तान राणा से प्रतिशोध लना चाहता था।

(v) जब मेदिनी राय राणा सांगा की सहायता लन गया था तो उसका पुत्र नत्थू गुजरात की सेना की सहायता से महमूद के माण्डू आक्रमण

1 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास पृ 264–265
2 डॉ वी एस भार्गव राजस्थान का इतिहास, p 178
3 डॉ वी एस भार्गव राजस्थान का इतिहास p 182

के समय मारा गया। यह युद्ध का तात्कालिक कारण बना। मेदिनी राय ने राणा सांगा को मालवा पर आक्रमण हेतु उत्प्रेरित किया।[1]

युद्ध— मेदिनी राय राणा सांगा की सहायता से मालवा पर चढ आया पर उपयुक्त अवसर न समझ राणा की फौजें चित्तौड लौट गइ। जब सुल्तान महमूद ने मेदिनी राय को दण्ड देने के लिए गागरोन पर आक्रमण किया तो राणा ने महमूद को परास्त कर कद कर दिया। इस अवसर पर एक शाहजादे को जामिन के तौर पर चित्तौड छोडा और महाराणा को रत्न जटित मुकुट तथा सोने की कमर पेटी भेंट की।"[2] यह युद्ध 1519 ई म हुआ। महमूद को बन्दी बनाकर छोड देने के इस कार्य की कुछ इतिहासकारो ने निन्दा की है। हरविलास शारदा के शब्दो म यह राजनीतिक अदूरदर्शिता का परिणाम था।'[3] किन्तु डा गोपीनाथ शर्मा के अनुसार 'हमारे विचार से वास्तव म राणा का ऐसा करना बुद्धिमानी का द्योतक है। जब वह दूरस्थ माण्डू पर अपना अधिकार नही रख सकता था तो वह इस उदारता से क्यो न शत्रु को जीतता। इस प्रकार की नीति महाराणा कुम्भा की नीति का अनुसरण मात्र थी जो हर प्रकार से समयोचित थी। आगे होने वाली घटनाएँ भी इस नीति का समर्थन करती हैं।'[4]

परिणाम—वस्तुत राणा सांगा की इस नीति के कारण गुजरात मालवा के सम्मिलित आक्रमण की सम्भावना कम हो गई। इससे शक्ति सन्तुलन हो गया।

राणा सागा के गुजरात से सम्बन्ध
(Relations of Rana Sanga with Gujrat)

सघर्ष के कारण—मेवाड गुजरात सघर्ष के निम्नांकित कारण थे—

(i) नागौर के मुस्लिम राज्य को राणा कुम्भा ने अधिकृत कर लिया था जो गुजरात का समर्थक था। अत गुजरात का सुल्तान मुजफ्फर नागौर को स्वतन्त्र राज्य बनाना चाहता था।

(ii) गुजरात के सुल्तान ने मेदिनी राय के विरुद्ध माण्डू आक्रमण हेतु महमूद की सैनिक सहायता की थी। इससे राणा सागा ने मेदिनी राय की सहायतार्थ माण्डू पर आक्रमण किया।

(iii) गुजरात–मेवाड की परम्परागत शत्रुता व विस्तारवादी प्रतिद्वन्द्विता थी।

(iv) सघर्ष का तात्कालिक कारण ईडर राज्य के उत्तराधिकार का मामला था। ईडर के राव भाण के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र सूयमल राव बना किन्तु 18 माह बाद उसकी मृत्यु हो गई। सूयमल का पुत्र

1 बी एस दिवाकर राजस्थान का इतिहास, p 142
2 ओझा उदयपुर राज्य का इतिहास भाग 1 p 353-56
3 हरविलास शारदा महाराणा सांगा, p 68-69
4 पूर्वोद्धृत पृ 266-67

रायमल गद्दी पर बठा किन्तु उसके चाचा भीम ने उसम राज्य छीन लिया। रायमन राणा सांगा की शरण मे आ गया। भीम के मरने के बाद उसका पुत्र भारमल राव बना किन्तु राणा सागा न सही उत्तराधिकारी रायमल को गद्दी पर बठा दिया। भारमल न गुजरात के सुल्तान से सहायता ली। गुजरात के सेनापति निजामुल्मुल्क ने भारमल को गद्दी पर बठा दिया कि तु रायमल ने पहाडा से निकल कर ईडर स्थित गुजराती सेनापति जहीउल्मुल्क को पराजित कर मार डाला। इस पर गुजरात के सुल्तान न ईडर पर आक्रमण कर उस लूटा।[1]

युद्ध व उसके परिणाम—राणा सांगा ने उपरोक्त समाचार सुनकर 1518ई म चित्तौड स प्रस्थान कर एक ही दिन म ईडर को जीत लिया। गुजराती सेना अहमदाबाद की ओर भागी किन्तु सांगा ने पीछा करते हुए अहमदाबाद दुग को घेर लिया व फाटक तोड दुग म प्रवेश किया और लूटा। सांगा न बडनगर बीलनगर व गुजरात प्रदेश को भी लूटा और चित्तौड वापस आया।

इस पराजय का प्रतिशोध लेने हेतु 1520 ई म सुल्तान ने मवाड पर आक्रमण किया। मन्दसौर म भीषण युद्ध हुआ किन्तु सुल्तान ने सधि कर ली और वापस चला गया।

"1524 मे गुजरात के सुल्तान का लडका बहादुर खाँ भाई की शत्रुता के कारण राणा सांगा के पास चित्तौड चला गया। महाराणा की माता ने उसे अपना बेटा बनाया और वह बहुत दिनों तक चित्तौड म रहा। सांगा न अपने सफल अभियान म गुजरात को लूटा, ईडर पर अपना प्रभुत्व जमाया और गुजरात के उत्तराधिकारी को अपन यहाँ शरण देकर अपने प्रभुत्व की धाक चारो ओर फलादी।'[2]

राणा सागा तथा इब्राहीम लोदी
(Rana Sanga and Ibrahim Lodi)

युद्ध के कारण—राणा सांगा व दिल्ली के सुल्तान इब्राहीम लोदी के मध्य युद्ध के कारण निम्नांकित थे—

(i) इब्राहीम लोदी की साम्राज्यवादी आकांक्षा ने उसे राणा सागा के साथ सघष हेतु उत्प्रेरित किया।

(ii) राणा सांगा ने अपना राज्य विस्तार बयाना तक विस्तृत कर लिया था जो दिल्ली व आगरा के सुल्तान के लिए चुनौती था।[3]

(iii) मालवा को अधिकृत करन हेतु राणा सांगा व इब्राहीम लोदी के मध्य प्रतिद्वन्द्विता थी। डा अवध बिहारी पाण्डे के अनुसार—

1–2 बी एम त्रिवाकर राजस्थान का इतिहास p 144–45
3 हरविलास शारदा महाराणा सांगा

'मालवा का राज्य राणा सांगा और इब्राहीम लोदी के बीच दबाव में हड्डी की तरह था।[1]

(iv) श्यामलदास ने एक अन्य कारण बतलाया है—'राणा सांगा ने गद्दी पर बैठते ही 1508 ई. में अजमेर पर अधिकार कर अजमेर व नागौर की जागीर कर्मचन्द पवार को सौंप दी थी।[2] अजमेर खालसे प्रदेश होने के कारण इब्राहीम लोदी उसे पुनः हस्तगत करना चाहता था।

युद्ध—उपरोक्त कारणों से 1517 ई. में इब्राहीम लोदी ने मेवाड़ पर आक्रमण किया। खातोली (मेवाड़ के जिले बूंदी में स्थित) के करीब मैदान में सांगा व लोदी की सेनाओं में भीषण युद्ध हुआ। लोदी के सेनापति मियाँ मक्खन की सेना भागने लगी और इब्राहीम लोदी के रोकने पर भी न रुकी तो वह स्वयं भी रणक्षेत्र से भाग गया। इस युद्ध में सांगा का एक हाथ कट गया व पैर में तीर लगने से वह लँगड़ा भी हो गया। बाबर ने भी अपनी आत्मकथा में इसका उल्लेख किया है।

इब्राहीम लोदी ने प्रतिशोध लेने हेतु पुनः मेवाड़ पर आक्रमण किया किन्तु पराजित हुआ। यह युद्ध घोसपुर के निकट हुआ था। हरविलास शारदा के अनुसार—राणा चाहता तो इसी समय भागते हुए सुल्तान का पीछा कर व आगरे को अधिकृत कर सम्पूर्ण उत्तरी भारत को जीत सकता था किन्तु युद्ध में वह स्वयं भी घायल हो गया था।[3]

वी. एस. भार्गव ने युद्ध के परिणामों के सम्बन्ध में कहा है कि—'इस विजय से सारे राजपूत राजाओं ने सांगा का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया। राणा ने अपनी चमत्कारपूर्ण विजयों से मेवाड़ को राजस्थान का सूर्य बना दिया और उसे हिन्दू पद की उपाधि से सुशोभित किया गया।[4] डा. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार—'राणा सांगा की आकांक्षा दिल्ली पर हिन्दू राज्य स्थापित करने की थी।'[5]

राणा सांगा तथा बाबर—खानवा का युद्ध (16 मार्च 1527)

[Rana Sanga and Baber—Battle of Khanva (16th March, 1527)]

खानवा का युद्ध (16 मार्च, 1527 ई.)

कारण—राणा सांगा के विरुद्ध बाबर के युद्ध के निम्नांकित कारण थे—

(1) बाबर के ही शब्दों में—यद्यपि काफिर राणा सांगा ने मेरे पास बड़े स्नेह से अपने दूत द्वारा वचन दिया था कि ज्योंही मैं दिल्ली पर आक्रमण करूंगा

1 *Dr Avadh Bihari Pandey* First Afgan Empire in India
2 श्यामलदास वीर विनोद p 354
3 हरविलास शारदा महाराणा सांगा
4 पूर्वोद्धृत पृ 147
5 *Dr A L Srivastava* Delhi Sultanat

राणा साँगा भी उसकी सहायतार्थ दूसरी ओर से आगरा पर आक्रमण कर देगा किन्तु मेरे द्वारा इब्राहीम को पराजित कर दिल्ली तथा आगरा पर अधिकार करने के समय तक भी राणा साँगा ने मेरी कोई सहायता न की।'[1] राणा साँगा की ओर से यह विश्वासघात बाबर से युद्ध का कारण बना।

(2) दूसरे पक्ष के अनुसार राणा साँगा को बाबर से यह शिकायत थी कि बाबर ने काल्पी, धौलपुर, बयाना तथा आगरा को राणा साँगा को देने के बजाय उन्हें स्वयं ही अधिकृत कर लिया।

(3) राणा साँगा ने बयाना को वहाँ के शासक निजामखाँ से छीन कर अधिकृत कर लिया। इस पर बाबर की सहायता से निजामखाँ ने अपने को बयाना का पुनः शासक नियुक्त किया। अतः बाबर से राणा साँगा का संघर्ष अनिवार्य हो गया।

युद्ध की घटना—16 मार्च 1527 ई० को दोनों ओर की सेनाएँ सीकरी से 10 मील तथा आगरा से 20 मील की दूरी पर स्थित खानवा नामक स्थान पर एकत्रित हो गयीं। बाबर ने पानीपत के युद्ध के समान ही अपनी युद्ध योजना बनाई किन्तु इस बार उसने अपनी तोपों को पहिये वाली तिपाइयों पर स्थिर करवाया ताकि उन्हें सुविधानुसार स्थानान्तरित किया जा सके। सुरक्षित सेना भी इस बार संख्या में अधिक थी। मध्य भाग का बाबर ने स्वयं नेतृत्व किया तथा दायें एवं बायें पक्ष का नेतृत्व क्रमशः हुमायूँ एवं बाबर के बहनोई मेंहदी ख्वाजा ने किया।

यद्यपि बाबर की सेना इस समय पहले से अधिक थी किन्तु राणा साँगा की सेना उससे आठ गुनी अधिक थी जिसके कारण बाबर के सैनिक हताश होने लगे। इसके अतिरिक्त एक ज्योतिषी द्वारा बाबर के प्रतिकूल भविष्यवाणी करने से सेना का मनोबल और भी गिर गया। बाबर निराश न हुआ। उसने अपने पापों का प्रायश्चित करने के लिए सेना के समक्ष शराब न पीने की शपथ ली तथा शराब पीने के सोने चाँदी के सभी बर्तनों को नष्ट कर उन्हें दरवेशों में वितरित करा दिया। इसके बाद उसने अपनी सेना को इन शब्दों में सम्बोधित किया— अमीरों तथा सैनिकों! प्रत्येक व्यक्ति जो इस संसार में आता है नश्वर है। सम्मानपूर्वक मरना अपयश से जीने की अपेक्षा कितना अच्छा है। सर्वश्रेष्ठ परमात्मा ने प्रसन्न होकर हमें इस कार्य (जिहाद) में नियोजित किया है। यदि हम मारे गए तो शहीद होंगे और यदि विजयी हुए तो ईश्वर के उद्देश्य की जीत होगी।'[2]

सेना पर इसका अनुकूल प्रभाव पड़ा। सैनिकों ने कुरान पर हाथ रख कर प्रतिज्ञा की कि वे अन्त समय तक लड़ते रहेंगे। बाबर ने साँगा की सेना पर आक्रमण किया। राजपूत बड़ी वीरता से लड़े। बड़ा घमासान युद्ध हुआ। युद्ध में राणा को हाथी पर बैठे हुए तीर लगने के कारण घायल हो जाने पर उसे युद्ध-क्षेत्र से हटाकर सिसवा ले जाया गया। युद्ध चलता रहा किन्तु जब राजपूत सेना को राणा साँगा के

1-2 बाबरनामा p 550-557

युद्ध क्षेत्र से चले जाने का पता चला तो उसका मनोबल गिर गया और वह भाग खड़ी हुई। बाबर की युद्ध में विजय हुई।

परिणाम—खानवा का यह युद्ध भी पानीपत के प्रथम युद्ध के समान निर्णायक सिद्ध हुआ। इसके निम्नांकित परिणाम हुए—

(1) राजपूतों की प्रभुता समाप्त हो गयी। ऐसा कोई राजपूत वंश नहीं था जिसके श्रेष्ठ नायक का इस युद्ध में रक्त न बहा हो। इस युद्ध के बाद अनेक वर्षों तक राजपूत शक्ति सम्पन्न न हो सके।

(2) राणा सांगा की पराजय के बाद बाबर भारत का पूर्णरूप से शासक बन गया तथा मुगल साम्राज्य की नींव दृढ़ हो गयी।

(3) बाबर के दर दर की ठोकरें खाने के दिन भी समाप्त हो गये। अब उसने भारत में अपने पैर जमा लिये। उसका ध्यान अब काबुल से हटकर भारत की ओर केंद्रित हो गया।

(4) इस युद्ध के बाद उसके द्वारा अन्य विरोधियों को परास्त करने का कार्य सुगम हो गया।

खानवा युद्ध के पूर्व सांगा द्वारा लिए गए निर्णय उसकी पराजय के कारण कैसे बने ?

(How far Sanga's decisions taken before the Battle of Khanva were causes of his defeat ?)

खानवा युद्ध के पूर्व सांगा की प्रतीक्षा करो व देखो (Wait & See) की नीति उसकी पराजय की मुख्य कारण रही। डा. वी. एस. भार्गव ने ठीक कहा है कि— राणा सांगा की पराजय का सबसे बड़ा कारण यह था कि उसने अवसर का सदुपयोग नहीं किया। इसका दुष्परिणाम यह निकला कि बाबर को तैयारी का काफी समय मिल गया और राणा की खानवा के युद्ध क्षेत्र में पराजय हुई।[1] डा. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार— सांगा ने बयाना और खानवा की घटना के बीच लगभग एक मास का अवसर देकर शत्रु को सचेत कर अपना ही अहित किया। विजय की मस्ती में राणा आने वाली पराजय की आशंकाओं को भूल गया। यह विस्मृति राजपूत प्रतिष्ठा के लिए अन्त में घातक सिद्ध हुई।[2] डा. ओझा का भी यही मत है— इस पराजय का मुख्य कारण महाराणा सांगा का प्रथम विजय के बाद तुरन्त ही युद्ध न करके बाबर को तैयारी करने का पूरा समय देना ही था। यदि वह बयाना की पहली लड़ाई के बाद ही आक्रमण करता तो उसकी जीत निश्चित थी।[3] एलफिन्स्टन का कथन है कि— यदि राणा मुसलमानों की पहली घबराहट पर ही आगे बढ़ जाता तो उसकी विजय निश्चित थी।"[4]

1. पूर्वोद्धृत पृ 2-3
2. डा. गोपीनाथ शर्मा Mewar & the Mughal Emperors p 41-46
3. डा. ओझा – उदयपुर राज्य का इतिहास भाग 1 p 379
4. *Elphinstone* History of India p 423

उपरोक्त इतिहासकारों के मत यह सिद्ध करते हैं कि खानवा युद्ध के पूर्व साँगा द्वारा लिए गए निर्णय उसकी पराजय के कारण थे।

साँगा के अंतिम दिन—खानवा के युद्ध क्षेत्र से घायल व मूर्छित अवस्था में साँगा को पालकी में बसवा नामक स्थान पर ले जाया गया। होश में आने पर उसने बाबर को परास्त किए बिना चित्तौड जाने से इंकार कर दिया और सामन्तों को आमन्त्रण पत्र लिख इरिच के मैदान में बाबर से युद्ध हेतु आ डटा। उसके सामन्तों ने इस बार की पराजय एवं मेवाड के सर्वनाश के भय से साँगा को विष देकर 30 जनवरी 1528 में मार डाला।

साँगा का मूल्यांकन—डा ओझा के शब्दों में—'साँगा वीर, उदार, कृतज्ञ, बुद्धिमान और न्याय परायण शासक था।' बाबर ने आत्मकथा में लिखा कि—"राणा साँगा अपनी बहादुरी और तलवार के बल पर बहुत बड़ा हो गया था।" डा गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में—"उसने हिम्मत मरदानगी और वीरता के आचरण को अपनाकर अपने आपको अमर बनाया। आज भी उसके जीवन के उद्देश्य और आचरण भारतीय जनता के लिए आदर्श बने हुए हैं।"[1]

KEXAMS

4 साम्राज्यिक शक्ति का प्रतिरोध–चन्द्रसेन व महाराणा प्रताप

(Resistance to Imperial Power—Chandrasen and Maharana Pratap)

राजस्थान में साम्राज्यिक शक्ति का प्रतिरोध विशेषतः मारवाड़ तथा मेवाड़ राज्यों के शासकों क्रमशः चन्द्रसेन व महाराणा प्रताप ने किया। मारवाड़ में वहाँ के राठौड़ शासक मालदेव ने दिल्ली के अफगान सम्राट शेरशाह सूरी का प्रतिरोध किया किन्तु शेरशाह ने धोखे से मालदेव के हृदय में उसके सामन्तों जैता व कूपा के प्रति सन्देह उत्पन्न कर उसे पीछे हटने को विवश किया किन्तु इन सामन्तों ने अफगान सेना का 5 जनवरी 1544 को सामेल के युद्ध में सामना किया किन्तु पराजित हुए। यद्यपि शेरशाह को विजय प्राप्त हुई तथापि वह यह कहने पर विवश हुआ था कि मुट्ठी भर बाजरे के लिए मैं हिन्दुस्तान की बादशाहत खोनी होती। इससे यह प्रकट होता है कि अफगान साम्राज्यिक शक्ति का मालदेव ने कड़ा प्रतिरोध किया था। यदि मालदेव की सेना संगठित रहती तो शेरशाह इस युद्ध में कभी नहीं जीतता।[1]

शेरशाह की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारियों में भागे हुए मुगल सम्राट हुमायूँ ने 1554 में पुनः दिल्ली की गद्दी प्राप्त की। उसकी 1556 में मृत्यु के बाद अकबर मुगल सम्राट हुआ। उसकी राजपूत नीति का उद्देश्य राजस्थान के राजाओं को पराजित कर अथवा उनसे वैवाहिक सम्बन्धों को स्थापित कर उन्हें अपने अधीन करना था। अकबर की इस नीति के फलस्वरूप मारवाड़ के शासक चन्द्रसेन तथा मेवाड़ के शासक महाराणा प्रताप ने साम्राज्यिक शक्ति का डटकर मुकाबला किया। इस अध्याय में चन्द्रसेन व राणा प्रताप के सन्दर्भ में इसी प्रतिरोध का विवेचन किया जाएगा।

1 बी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास पृ 194

चन्द्रसेन (1562–1581)
(Chandrasen, 1562—1581)

प्रारम्भिक परिचय

मारवाड के शासक राव मालदेव की मृत्यु के बाद साम्राज्यिक शक्ति के प्रतिरोध का नेतृत्व उसके पुत्र चन्द्रसेन ने किया। कर्नल टाड ने इस समय की मारवाड की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है कि 'राजा मालदेव की मृत्यु के पश्चात् मारवाड राज्य के इतिहास का एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। वहा के सम्मान और सम्मान म अनेक परिवर्तन हो गए। मारवाड म जहा पर राजपूतो का पचरंगा झण्डा फहराता था वहा पर अब मुगलों का झण्डा फहरा रहा था।"[1] इस परिस्थिति को समझने हेतु हम मालदेव के उत्तराधिकारी चन्द्रसेन के जीवन वृत्त का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करना होगा।

मालदेव की मृत्यु 1562 ई मे हुई। वह अपने जीवन काल म ही अपने तीसरे पुत्र चन्द्रसेन को अपना उत्तराधिकारी बना गया था। उसके चार पुत्र थे—राम उदयसिंह चन्द्रसेन तथा रायमल। डा गोपीनाथ शर्मा ने उपलब्ध स्रोतो के आधार पर कहा है कि राव मालदेव ने अपने ज्येष्ठ पुत्र राम से अप्रसन्न होकर उसे राज्य से निर्वासित कर दिया, जिस पर वह केलवा (मेवाड) म जाकर रहने लगा। उसके छोटे भाई से भी उसकी पटरानी नाराज हो गई जिससे उसे राज्याधिकार से वंचित रखा गया और उसे जागीर देकर फलोदी भेज दिया। अतएव पिता की मृत्यु पर 1562 ई म चन्द्रसेन, जो तीसरा पुत्र था मारवाड का शासक बना। वास्तव म चन्द्रसेन का गद्दी मिलना वह सरदारो और उसके अन्य भाइयो को अच्छा नही लगा। चन्द्रसेन ने आवेश मे आकर एक चाकर को मरवा डाला। इस घटना मे राठौड पृथ्वीराज तथा अन्य सरदार बहुत बिगडे। उन्होने इस अन्यायपूर्ण कार्य के लिए चन्द्रसेन को दण्ड देने के लिए गठबंधन किया और राम उदयसिंह तथा रायमल को आमन्त्रित किया कि व चन्द्रसेन का विरोध करें।[2] अत विद्रोही गुट ने चन्द्रसेन का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। विशेश्वरनाथ रेऊ के शब्दो म "चन्द्रसेन के तीनो भाई जो पहले से ही अप्रसन्न थे इस सूचना को पाते ही विद्रोह के लिए तयार हो गए।[3]

गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार "राम ने केलवा से आकर सोजत में उपद्रव किया। रायमल दुनाडे में विद्रोह करने लगा तथा उदयसिंह ने गाँगाणी के निकट लौटा गाँव को लूटा। राव चन्द्रसेन ने राम और रायमल के उपद्रव का दमन किया तथा उदयसिंह को लोहावट म सघर्ष कर बरछी से घायल किया किन्तु वह बच कर भाग गया। उदयसिंह ने फलोदी म चन्द्रसेन की सेना का सामना करने के लिए

1 टॉड राजस्थान का इतिहास (श्री ईश्वरीप्रसाद), p 370
2 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास पृ 327
3 प विश्वेश्वरनाथ रेऊ मारवाड़ का इतिहास

तथारी की किंतु कुछ सरदारों ने इस गृह कलह को चन्द्रसेन का समझा बुझाकर शांत किया।[1] यह घटना 1562 में घटित हुई।

चन्द्रसेन के प्रति अकबर की नीति
(Akbar's Policy Toward Chandrasen)

यद्यपि भाइयों के विद्रोह के दमन में चन्द्रसेन सफल रहा था किंतु उसके भाइयों के अकबर की शरण में चले जाने से स्थिति बदल गई और चन्द्रसेन का पक्ष दुर्बल पड़ गया। उसका भाई राम 1564 में अकबर के दरबार में सहायतार्थ पहुँचा। अकबर राजस्थान विजय हेतु अपनी योजना को क्रियान्वित करने के लिए अवसर की तलाश में था। मारवाड़ के गृह कलह ने उसे यह उपयुक्त अवसर दिया। उसने राम को आश्रय दिया। उदयसिंह भी विद्रोही सरदारों की सलाह पर नागौर के शासक हुसैन कुली बेग की शरण में चला गया। अकबर ने उसे मारवाड़ की गद्दी देने का वायदा किया।

बी एम दिवाकर का मत है कि 'भाग्य की अनुकूलता सरदारों का स्वार्थ और गद्दी की भूख मारवाड़ की आजादी को खा गई। आपसी लड़ाई से शक्ति क्षीण हो गई। इस अवसर से अकबर ने लाभ उठाना उचित समझा। अब तक वह कई राजपूत राजाओं से मित्रता कर चुका था। जैसलमेर और बीकानेर के राजा भी उसकी शरण में आ गए थे। जयपुर (आमेर) पहले ही अकबर का समर्थक हो चुका था। केवल जोधपुर और मेवाड़ के शासक अपनी स्वतंत्रता की बीन बजा रहे थे। जोधपुर को अपने शिविर में पाकर अकबर के हार्दिक दूत प्रसन्न हुए और उन्होंने उदयसिंह का मारवाड़ की गद्दी दिलवाने का वायदा किया। भाग्य का यह उत्तराधिकार का युद्ध और उदयसिंह का मुगलों की शरण में जाना मारवाड़ को महँगा पड़ा। इसी समय से 19 वर्ष का संघर्ष शुरू हुआ और चन्द्रसेन की मृत्यु के बाद 1581 में उदयसिंह जोधपुर की गद्दी पर बैठा।[2]

जोधपुर पर मुगल आधिपत्य—राव चन्द्रसेन का भाई उदयसिंह जब नागौर के शासक हुसैन कुली बेग की शरण में चला गया और अकबर से सहायता की प्रार्थना की तो अकबर ने हुसैन कुली बेग के नेतृत्व में सेना भेजकर जोधपुर पर अपना अधिकार कर लिया। इस घटना का उल्लेख अबुलफजल कृत अकबरनामा में किया गया है किंतु जोधपुर राज्य की ख्यात में कहा गया है कि शाही सेना ने तीन बार जोधपुर दुर्ग का घेरा डाला और तीसरी बार उसे लेने में मुगल सेना सफल हुई। डा गोपीनाथ शर्मा का मत है कि हो सकता है कि कुछ प्रारम्भिक घेरे के प्रयत्नों को अलग अलग घेरे बताकर ख्यातों में घटना का अतिरंजित कर उल्लिखित किया गया हो। परंतु चन्द्रसेन से किला छीनना फारसी और स्थानीय ख्यातों से

1 गौरीशंकर हीरानन्द ओझा जोधपुर राज्य का इतिहास भा–I पृ 85-86
2 बी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास पृ 196

प्रमाणित होता है।"[1] चन्द्रसेन जोधपुर पर मुगल अधिकार होने के बाद भाद्राजूण किले की ओर चला गया किन्तु मुगल सेना के द्वारा पीछा किए जाने के कारण वह अपना स्थान बदलते हुए भागता रहा और उसने अनेक कष्ट सहे।

डा. टाड ने उदयसिंह के इस कृत्य की निंदा करते हुए कहा है कि 'बादशाह अकबर से उदयसिंह को बहुत सी सुविधाएँ प्राप्त थीं। उदयसिंह का शरीर मोटा था और उसकी बुद्धि भी मोटी थी। उसे नाग मोटा राजा कहते थे। उदयसिंह जोधाराव का अयोग्य वंशज था और अपनी अयोग्यता के कारण ही उसकी स्वतन्त्रता नष्ट हुई।[2] 1564 से 1583 तक जोधपुर पर मुगल अधिकार बना रहा जिसके बाद अकबर ने जोधपुर का राज्य उदयसिंह को वापस दे दिया क्योंकि उदयसिंह ने अपनी पुत्री का विवाह शाहजादा सलीम से कर अधीनता स्वीकार कर ली थी।

अकबर का नागौर दरबार—जोधपुर पर मुगल अधिकार होने के बाद अकबर अपनी राजपूत नीति को क्रियान्वित करने हेतु अपनी अजमेर यात्रा के समय 1570 में नागौर आया और वहाँ काफी समय तक रहा और राजस्थान के प्रमुख राजाओं का दरबार किया। नागौर में अकबर ने अकाल राहत हेतु शुक्र तालाब नामक तालाब बनवाया।[3] डा. गोपीनाथ शर्मा ने नागौर निवास के समय अकबर के मन्तव्य का विवेचन करते हुए कहा है कि 'इस काल में अकबर के दो काम सध गए। एक तो दुष्काल निवारण की योजना का आरम्भ करना और दूसरा लम्बे समय तक नागौर में ठहरकर राजनीतिक परिस्थिति का अध्ययन करना। वास्तव में अकबर का वहाँ रहना एक प्रकार से मुगल हित में रहा। अकबर ने उधर मेवाड़ के विरुद्ध कार्यवाही करने की योजना बना ली थी। वह चाहता था कि किसी प्रकार राजपूत राजाओं में फूट हो जाए तो एक एक से अलग अलग निपटना आसान होगा। इसी उद्देश्य से वह नागौर में विश्राम करता रहा। यहाँ कई नरेश जिनमें बीकानेर और जैसलमेर के नरेश मुख्य थे अकबर से मिलने को पहुँचे।'[4] अबुल फजल ने लिखा है कि आमेर द्वारा जो वैवाहिक सम्बन्ध का क्रम आरम्भ किया गया था उसी का अनुसरण कर बीकानेर व जैसलमेर के शासकों ने भी अकबर से वैवाहिक सम्बन्ध जोड़े। राव चन्द्रसेन, उदयसिंह, राम आदि भी अपनी स्थिति सुधारने के लिए वहाँ उपस्थित हुए।[5] इससे स्पष्ट होता है कि चन्द्रसेन भी अकबर के समक्ष नागौर में उपस्थित हुआ था।

चन्द्रसेन का नागौर से वापस चले जाना (Chandrasen Left Nagore)—3 नवम्बर 1570 को चन्द्रसेन भी अपनी स्थिति को सुधारने की आशा से नागौर अकबर के दरबार में उपस्थित हुआ। अकबर को 1569 से 1570

1, 4 पूर्वोद्धृत पृ. 328-329
2 टाड राजस्थान का इतिहास पृ. 373
3, 5 अकबरनामा, भाग-2 पृ. 518

अवधि मे चन्द्रसेन के आर्थिक कष्टों म दर दर भटकने व अपने पूवजो के रत्न वकर अपनी सना का खच चलाने की खबरें प्राप्त होती रही थी। राम व उदयसिह हल स ही अकबर की अधीनता म रह रहे थे। यद्यपि अकबर न चन्द्रसेन को राजा सा सम्मान किया किन्तु उसे कोई आश्वासन नहीं दिया और म राम व उदयसिह ही जोधपुर राज्य लौटाने का वचन दिया। अत अपनी आशा पूर्ण न होने देख या अपने विरोधियो के सामने अकबर द्वारा उपेक्षित समझ कर चन्द्रसेन नागौर म पस चला गया किन्तु अपने पुत्र रायसिह को अकबर स वाता हेतु पीछे छोड़ गया। कबर चन्द्रसेन के इस प्रकार नागौर से वापस चले जाने पर अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और नने रायसिह को वापस लौटा कर चन्द्रसेन का दमन करने का सकल्प किया। नने राजपूत नरेशो म फूट डाल कर अपना आधिपत्य स्थापित करने की नीति की ष्ट स बीकानेर के राजा रायसिह को जोधपुर राज्य का सरक्षक बना दिया तथा द्रसेन का पीछा करते रहने के आदेश अपनी सेना को दिए।

चन्द्रसेन द्वारा नागौर छोडकर जाने के निम्नांकित कारण थ—

(i) नागौर छोडने के तात्कालिक कारण का आभास जोधपुर की ख्यात' स होता है जिसम उल्लेख है कि अकबर ने चन्द्रसेन स परिहास म कहा था म काल आदमियो से नहीं मिलता क्योंकि इसस मेरा दिन भी काला हो जाएगा। इस ताने स रुष्ट होकर चन्द्रसेन नागौर दरबार छोडकर चला गया।

(ii) चन्द्रसेन का अकबर न सम्मान तो किया किन्तु उस जोधपुर का राजा नहीं माना।

(iii) मुगल दरबार म चन्द्रसेन ने देखा कि उसके भाई उदयसिह को काफी महत्त्व दिया जा रहा था जिसमे चन्द्रसेन को विश्वास हो गया कि उदयसिह को अकबर का समथन मिल जाएगा।

(iv) 'उदयसिह न मुगल दरबार म विरोधी वातावरण उपस्थित कर दिया था और शत्रुओं के बीच चन्द्रसेन अपने आपको बडी खिसियाई हुई स्थिति म पाता था। उसका एक भी मित्र दरबार म नहीं था अत उसन वहाँ रहना व्यथ समझा।[1]

(v) "चन्द्रसेन न देखा कि अकबर एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के विरुद्ध खडा कर अपना स्वाथ सिद्ध करना चाहता है वह अकबर के दरबार स चल दिया।"[2]

(vi) चन्द्रसेन मे आत्मसम्मान व गौरव की भावना थी। वह अन्य राजाओ की भाँति अकबर म वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर अपना हित साधन न करना चाहता था बल्कि आत्म सम्मान हेतु कष्ट सहना पसन्द करता था।

1 डॉ एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास पृ 199
2 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास पृ 329

नागौर के इस अकबर दरबार के महत्त्व को बतलाते हुए डा गोपीनाथ शर्मा का कथन है कि "मारवाड की परतन्त्रता की कडी में नागौर दरबार' एक बहुत बडी कडी थी। यहाँ किए गए निर्णय अकबर की भावी नीति के आधार बने। उसने अब चन्द्रसेन को मारत करने का संकल्प कर लिया और अन्य भाइयों को प्रलोभन देकर अपना अनुयायी बना लिया। जो नरेश यहाँ के दरबार में उपस्थित नहीं हुए थे उनकी मनोवृत्ति का समुचित रूप में परीक्षण हो गया। यहाँ से राजपूत नरेशों का स्पष्ट वर्गीकरण—विरोधी और मित्र राज्य के रूप में हो गया।[1]

चन्द्रसेन द्वारा साम्राज्यिक शक्ति का प्रतिरोध

अत्यन्त आर्थिक सकटों को सहन करते हुए चन्द्रसेन ने मुगल सेना का जगह-जगह भटकते हुए कडा प्रतिरोध किया। 1565 में जोधपुर छोडकर वह भाद्राजूण रहा किन्तु मुगल सेना से घिर जाने पर उसने सिवाना मे मोर्चा लगाया। सोजत के कल्ला रावल सुखराम सूजा व देवीदास ने चन्द्रसेन का साथ दिया। मुगल सेना के पीछा करने पर चन्द्रसेन रामपुरा के पहाडों पीपलोद व काणूजा के पहाडों में प्रतिरोध करते हुए जोधपुर व महाजनों को लूटता रहा। इसमें मारवाड के लोग उससे अप्रसन्न हो गए। फिर वह मारवाड छोडकर मेवाड सिरोही डूगरपुर व बाँसवाडा गया किन्तु मुगल सेना ने उसका पीछा न छोडा। उसने अजमेर तक छापे डाले व 1579 में उसने सोवराड व सोजत पर अधिकार किया किन्तु मुगल सेना ने उसे सारण के पहाडों की ओर भगा दिया। अन्त में सिचियाई के पहाडों में रहते हुए 11 जनवरी 1581 ई में उसकी मृत्यु हो गई।

राव चन्द्रसेन का मूल्यांकन—राणा प्रताप से तुलना

इतिहासकारों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से चन्द्रसेन का मूल्यांकन किया है। उसे मारवाड का भूला हुआ नायक (Forgotten Hero of Marwar) भी कहा जाता है क्योंकि अपना राज्य खोकर व अनेक कष्टों को सहन करता हुआ वह मुगलों का प्रतिरोध करता रहा। प रेऊ ने उसकी राणा प्रताप से तुलना करते हुए कहा है कि "जिस प्रकार प्रताप को अपने बन्धु बांधवों का विरोध भेलना पडा और व जिस प्रकार मुगल दरबार के सदस्य बन गए उसी प्रकार चन्द्रसेन के बान्धवों की स्थिति थी। जिस प्रकार प्रताप ने अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा हेतु मुगल अधीनता स्वीकार न की उसी प्रकार चन्द्रसेन भी आजन्म अकबर से टक्कर लेता रहा। प्रताप की भाँति चन्द्रसेन के पास भी मारवाड के कई भाग अधिकार में नहीं थे। जब प्रताप ने चित्तौड माण्डलगढ़ आदि स्थानों को अन्त तक लेने में सफलता प्राप्त नहीं की उसी प्रकार चन्द्रसेन भी जोधपुर का दुर्ग न ले सका। चन्द्रसेन ने बाँसवाडा आदि के पहाडी प्रदेशों की उसी भाँति शरण ली जिस प्रकार प्रताप ने छप्पन के पहाडों की ली थी।'[2]

1 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास पृ 329

2 प विश्वेश्वरनाथ रेऊ मारवाड का इतिहास

डा गोपीनाथ शर्मा ने इस तुलना पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि "दोनों (प्रताप व चन्द्रसेन) की गतिविधियों में जमीन आसमान का अन्तर है। राव चन्द्रसेन ने मारवाड़ के एक पहाड़ी भाग से दूसरे पहाड़ी भाग में रहकर मुगलों को अवश्य छकाया था परन्तु वह कहीं खुलकर (हल्दीघाटी जैसा) उनसे युद्ध न कर सका। पहाड़ों में विचरण के साथ साथ प्रताप ने जन जागरण द्वारा मेवाड़ में नव जीवन को संचारित किया यह स्थिति चन्द्रसेन पैदा न कर सका। वह तो पहाड़ों में रहते हुए मारवाड़ में ही लूट खसोट करता था। चन्द्रसेन को स्वदेश छोड़कर सिरोही मेवाड़ डूंगरपुर बांसवाड़ा आदि स्थानों की शरण लेनी पड़ी। इसके विपरीत प्रताप की नीति राज्य को सुरक्षित रखने की थी। चन्द्रसेन का धन और जन की कमी प्रारम्भ से अन्त तक बनी रही ऐसी स्थिति कभी प्रताप की नहीं रही।[1]

डा वी एस भार्गव का मत है कि इस प्रकार एक भुला दिए गए नायक के जीवन का अन्त हुआ जो अपनी मातृभूमि को अपना रक्त देकर भी स्वतन्त्र करना चाहता था और बढ़ती हुई मुगल शक्ति के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता बनाए रखना चाहता था। श्री एम दिवाकर का कथन है राव चन्द्रसेन अपने शासन के पूरे 19 वर्ष तक अपनी मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिए लड़ता रहा और अन्त में उसने अपने देश की आजादी के लिए अपने प्राणों की आहुति दे दी। जीवन भर अपने पूर्वजों के गौरव को प्राप्त करने के लिए वह छटपटाता रहा। किन्तु उसकी चेष्टाएं विफलता के अथाह सागर में डूबती गई और भाइयों की आपसी फूट मारवाड़ की पराधीनता का कारण बन गई।[3] इन कथनों से चन्द्रसेन के चरित्र की मनस्विता व वीर प्रकृति का परिचय मिलता है।

महाराणा प्रताप
(Maharana Pratap)

महाराणा प्रताप के पूर्व मेवाड द्वारा साम्राज्यिक शक्ति का प्रतिरोध

पूर्व में राणा सांगा द्वारा साम्राज्यिक शक्ति के प्रतिरोध का विवरण दिया जा चुका है। सांगा की मृत्यु के बाद मेवाड़ की राजनीतिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गई थी। राणा सांगा के बाद रत्नसिंह (1528–1531) विक्रमादित्य (1531–1536) व बनवीर (1536–1537) क्रमशः मेवाड़ की गद्दी पर बैठे जिनके 10 वर्ष के शासनकाल में पर पर विद्रोह हत्याओं व पराजय की घटनाओं से महाराणा कुम्भा व सांगा की साम्राज्यिक शक्ति की प्रतिरोधात्मक गौरवशाली परम्परा को काफी धक्का लगा। रत्नसिंह के राज्य काल में हाड़ी रानी कर्मावती द्वारा बाबर को रणथम्भौर दुर्ग सौंपने का प्रयास करना यदि वह (बाबर) उसके पुत्र विक्रमादित्य को चित्तौड़ की गद्दी पर बिठा दे एक आश्चर्यजनक षड्यन्त्र था। विक्रमादित्य के राज्य काल में बहादुरशाह के आक्रमणों से मेवाड़ की धन जन की

1 डा गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास पृ 331–32
2 *D V S Bhargava* Marwar and th Mugal Emperors
3 पूर्वोद्धृत पृ 194

हानि हुई। कुंवर पृथ्वीराज के अनौरस पुत्र बणवीर द्वारा विक्रमादित्य की हत्या कर राज्य गद्दी हड़प ली गई। वह विक्रमादित्य के भाई उदयसिंह को भी मारना चाहता था किन्तु पन्नाधाय के प्रयास से उदयसिंह को बचा लिया गया तथा अन्त में उसे मेवाड़ का शासक बना दिया गया। इन दस वर्षों की अवधि में मेवाड़ की स्थिति बिगड़ गई थी जिसे राणा उदयसिंह ने पुनः उन्नत किया।

महाराणा उदयसिंह द्वारा प्रतिरोध

महाराणा उदयसिंह ने 1540 में गद्दी पर बैठने के बाद मारवाड़ के शासक मालदेव के आक्रमण को विफल कर बून्दी में अपने आश्रित सुर्जन हाड़ा को गद्दी पर बिठाकर तथा राजपूत सरदारों व राजाओं से मित्रता कर मेवाड़ को शक्तिशाली बनाया। उसने 1543 में शेरशाह के चित्तौड़ आक्रमण को कूटनीति से टाल दिया तथा अजमेर के अफगान हाकिम हाजी खाँ पठान को परास्त किया। उसने उदयपुर नगर व उदय सागर का निर्माण भी कराया।

राणा उदयसिंह ने मालवा के शासक बाज बहादुर व मेड़ता के जयमल को अपने यहाँ शरण दी थी अतः अकबर ने चित्तौड़ पर आक्रमण की तैयारी की। सरदारों के परामर्श से उदयसिंह चित्तौड़ की रक्षा का भार जयमल को सौंप कर उदयपुर चला गया। इस कार्य को डा. गोपीनाथ शर्मा ने उचित मानकर कहा है कि— 'चित्तौड़ छोड़ने के पीछे एक नीति थी और उसमें एक नई चाल थी। यह उदयसिंह की नई चाल आगे चलकर महाराणा प्रताप और राजसिंह ने भी अपनाई थी क्योंकि उसमें तर्क था और तथ्य भी।'[1] मुगल सेना के विरुद्ध पहाड़ियों में रह कर ही छापामार युद्ध प्रणाली कारगर रही।

23 अक्टूबर, 1567 को अकबर ससैन्य चित्तौड़ पहुंचा और दुर्ग को घेर लिया। साबात सुरंगें तथा बुर्जों के पास मोर्चे खोलने में अकबर को दुर्ग अधिकृत करने में सफलता मिली। जयमल मारा गया, राजपूतों ने फाटक खोल केसरिया बाना पहन कर युद्ध करते हुए वीर गति पाई तथा दुर्ग में स्त्रियों ने जौहर किया। 25 फरवरी 1568 को किले पर पूर्ण अधिकार मुगलों का हो गया। अकबर ने वीर जयमल और पत्ता की मूर्ति आगरा किले के द्वार पर लगाकर उनके शौर्य की प्रशंसा की।

चित्तौड़ पतन के बाद गोगुन्दा में महाराणा उदयसिंह का 28 फरवरी, 1572 ई. को देहान्त हो गया।

महाराणा प्रताप का प्रारम्भिक परिचय

उदयसिंह के पुत्र प्रताप का जन्म 9 मई 1540 ई. में जयवंताबाई (अक्षय राज सोनगरा की पुत्री) के गर्भ से हुआ था। वे 32 वर्ष की आयु में 1 मार्च, 1572 ई. को मेवाड़ की गद्दी पर बैठे। श्यामलदास इनके राज्यारोहण की तिथि 28 फरवरी, 1572 ई. बताते हैं।[2] इन्होंने 25 वर्ष तक राज्य किया। उदयसिंह

1 पूर्वोक्त पृ. 281

2 श्यामलदास : वीर विनोद भाग 2, p. 145

ने अपनी मृत्यु के पूर्व अपनी प्रिय भयाणी रानी के पुत्र जगमाल को अपना उत्तराधिकारी बनाया था। अत उदयसिंह की मृत्यु के बाद सलूम्बर के किशनदास और देवगढ के साँगा ने गुप्त रूप स जगमाल को गद्दी पर बठा दिया किन्तु ग्वालियर के रामसिंह और जालोर क अक्षयराज न प्रताप का गोगुन्दा म राज्याभिषेक कर दिया। जगमाल ने अकबर से जहाजपुर व सिरोही का आधा राज्य प्राप्त कर लिया और 1583 ई में अपनी मृत्यु पय त अकबर की सेवा म रहा।

राणा प्रताप को सिंहासनारूढ होते ही कठिनाइयों का सामना करना पडा। डॉ रघुवीर सिंह के शब्दों म— राज्यारूढ होत ही राणा प्रताप न स्पष्टतया मुगल विरोधी नीति अगीकार की और जो मेवाड क ही नही राजस्थान के इतिहास में भी एक महत्त्वपूर्ण परम स्फूर्तिदायक अध्याय प्रारम्भ हुआ जो कठोर पराधीनता के गहरे निराशापूर्ण दुखमय दिनो म राजस्थान क साथ ही समूचे भारत को स्वाधीनता के लिए सर्वस्व बलिदान कर उसकी निरन्तर अडिग साधना का पाठ पढाता रहा।[1] यह सकल्प प्रताप के जीवन से प्रकट होता है।

महाराणा प्रताप व अकबर के सम्बन्ध

महाराणा प्रताप व अकबर के सम्बन्ध एव मुगल साम्राज्यवादी शक्ति का प्रताप द्वारा प्रतिरोध को समझने के पूर्व मेवाड की तत्कालीन दशा एव प्रताप के सकल्प तथा अकबर का उसके प्रति नीति का सिंहावलोकन करना वांछनीय होगा। राणा साँगा के समय जो प्रभाव व राज्य विस्तार मेवाड का था वह पिछले 20 वर्षों के तीन राजाओ क प्रभावहीन शासन काल मे घटता गया। अकबर ने चित्तौड जीतकर तो मेवाड की प्रतिष्ठा को भारी आघात पहुचाया था। माण्डलगढ जहाजपुर और चित्तौड मेवाड के अधीन नही रहे थ। गुजरात और मालवा के स्वतन्त्र राज्य भी समाप्त हो गए थ और अब इन पर अकबर का साम्राज्य था। जोधपुर या मारवाड राज्य जो एक पडोसी व रिश्तेदार राज्य था अब मेवाड के शत्रुओ के हाथ मे आ गया था। आमेर बीकानेर और जसलमेर क राजाओ ने अपनी लडकी अकबर को ब्याह दी थी या अधीनता स्वीकार कर ली थी। ऐसी परिस्थिति म प्रताप ने आजीवन अकबर स लोहा लेकर मेवाड क गौरव को ही नही बढाया वरन् पराधीनता की बेडियो म बधकर स्वतन्त्रता के प्रति अपनी अटूट श्रद्धा समर्पित कर भारत के देशभक्तो म अपना स्थान सदा के लिए सुरक्षित करा लिया। प्रताप का लक्ष्य मेवाड क पराधीन भाग को स्वतन्त्रता दिलाना और चित्तौड पर पुन अधिकार करना था। अत राणा प्रताप ने मुगलो से सघर्ष का मार्ग ही अपनाया और इसके लिए उसने अपने सामन्तो और भीलो को इस सघर्ष हेतु सगठित किया। उसने अपना निवास स्थान गोगुन्दे म बदल कर कुम्भलगढ बना लिया।

1 डा रघुवीर सिंह पूर्व आधुनिक राजस्थान p 39

अकबर की राजपूत नीति एव प्रताप की उससे वितृष्णा का उल्लेख करते हुए डा वी एस भार्गव का कथन है कि— अकबर राजपूतो के सगठन का प्रयोग सम्पूर्ण भारत के राज्य की दृढता के लिए करना चाहता था। वह यह समझ चुका था कि यदि उसके नेतृत्व मे सगठित मुगल राज्य की स्थापना करनी है तो राजपूतो का सहयोग वाछनीय होगा फिर भी जिस राज्य की कल्पना अकबर कर रहा था उसमे प्रताप अपना स्थान सम्मानित नही मानता था। वह अपने वश गौरव की व्यक्तिगत विशुद्ध स्थिति का अधिक महत्व देता था। वह अपने राज्य को एक इकाई के रूप में रखकर अपने राज्यत्व की प्रतिष्ठा को उच्च बनाए रखने मे श्रेय समझता था बजाय इसके कि वह एक मुगल राज्य का आश्रित सामन्त हो जो अपने अधिकारो की मान्यता दिल्ली मे प्राप्त करे। अकबर से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए बाध्य होने की सम्भावना से भी प्रताप मे एक स्वाभाविक अरुचि थी। वह नही चाहता था कि मेवाड की परम्परा तोडने का कलक उसके सिर मढा जाए।'[1] अकबर ने राणा प्रताप को अपनी अधीनता मे लाने के लिए अनेक प्रयत्न किए किन्तु उसे सफलता न मिली।

अकबर के आदेश से मानसिंह की भेंट प्रताप से जून 1573ई मे उदय सागर तालाब के किनारे प्रताप द्वारा दिए गए भोज के अवसर पर हुई किन्तु प्रताप के भोज मे सम्मिलित न होने पर अपमानित समझकर मानसिंह वहाँ से रुष्ट होकर वापस चला गया। मानसिंह ने इस अपमान का बदला शीघ्र लेने की धमकी भी दी। इसके बाद अकबर ने आमेर के राजा भगवानदास तथा टोडरमल को भी भेजा था किन्तु सफलता न मिली। डा गोपीनाथ शर्मा प्रताप व मानसिंह की इस भेंट का कोई ऐतिहासिक आधार नही मानते बल्कि इसे भाटो व चारणो की कल्पना मात्र कहा है। अस्तु जब अकबर के शान्तिपूर्ण प्रयत्नो से जब प्रताप का हृदय परिवर्तन न हुआ तो उसने युद्ध का मार्ग अपनाया। हल्दीघाटी का युद्ध एव परवर्ती मुगल मेवाड सघर्ष इसी के परिणाम थे।

हल्दीघाटी का युद्ध (21 जून, 1576)
(Battle of Haldighati)

अकबर ने आमेर के राजा भगवान दास के पुत्र मानसिंह को एक विशाल सेना के साथ राणा प्रताप के विरुद्ध मेवाड भेजा। मानसिंह राणा प्रताप द्वारा स्वय के अपमान का बदला भी लेना चाहता था। मानसिंह के साथ राणा प्रताप का छोटा भाई शक्तिसिंह भी रुष्ट होकर आ मिला था। मानसिंह ने मेवाड मे खमणोर के निकट हल्दीघाटी के पास बनास नदी के तट पर अपना शिविर स्थापित किया। राणा प्रताप भी पूरी तयारी कर हल्दीघाटी मे आ डटा। जून, 1576 ई मे हल्दीघाटी का प्रसिद्ध युद्ध हुआ। महाराणा की सेना मे पठान शाहजादा हकीम सूर, ग्वालियर का राजा रामशाह तँवर, भामाशाह भालावीदा, सोनगरा मानसिंह

1 डॉ वी एस भार्गव राजस्थान का इतिहास, पृ 133

आदि वीर योद्धा थे। मुगल सेना में इतिहासकार बदायूनी भी था जिसने इस युद्ध का विवरण लिखा है। राणा प्रताप ने मुगलों पर भीषण आक्रमण किया और मुगल सेना के पैर उखड़ने ही वाले थे कि बारहा सैयदों की वीरता से मुगल सेना डटी रहा। राणा प्रताप ने अपने घोड़े चेतक को मानसिंह के हाथी के पास ले जाकर आक्रमण किया किन्तु चेतक जख्मी हो गया। राणा को शत्रु सेना में घिरा हुआ देख कर झाला सरदार बीदा ने शीघ्र पहुंच कर राजकीय छत्र अपने सिर पर धारण कर लिया और युद्ध करने लगा और हकीम सूर राणा को युद्ध भूमि से हटा कर घाटी के मुहाने पर ले आया। इसी समय शक्तिसिंह व राणा का सम्मिलन हुआ। झाला बीदा के आत्म बलिदान के साथ ही हल्दीघाटी के युद्ध में मुगलों की विजय हो गयी। मानसिंह गोगूंद में खेमे डाल पड़ा रहा। उधर राणा प्रताप अगले संघर्ष के लिए तैयारी में जुट गया। अकबर स्वयं गोगूंदे आया। उसने शाहबाजखां को कुम्भलमेर दुर्ग को जीतने भेजा जिसमें वह सफल हुआ।

1578 तथा 1579 ई. में शाहबाजखां को पुनः राणा प्रताप के विरुद्ध भेजा गया किन्तु दर दर की ठोकरें खाते हुए भी राणा प्रताप ने धैर्य न छोड़ा। एक दिन घास की रोटी भी उसके पुत्र के हाथ में वनबिलाव छीनकर भाग गया। इस कारुणिक दृश्य से प्रताप के हृदय को काफी वेदना पहुंची। अकबर के दरबार में रहने वाले बीकानेर के राजकुमार कवि पृथ्वीराज राठौर ने जब अकबर से यह सुना कि प्रताप अकबर की अधीनता स्वीकार करना चाहते हैं तो उसने प्रताप को लिखा—

पातल जो पतसाह बोल मुख हू तो वयाण।
मिहिर पछम दिस मांह उगे कासव राव उत्तर।।
पटकू मूछा पाण के पटकू निज तन करद।
दीज लिख दीवाण इण दो महली बात इक।।

कवि पृथ्वीराज राठौर के इन प्रेरणादायक शब्दों ने राणा प्रताप को प्रोत्साहित किया और उन्होंने पृथ्वीराज को अपनी प्रतिज्ञा पर मर मिटने का आश्वासन दिया। प्रताप के मंत्री भामाशाह ने भी इस आर्थिक संकट के समय काफी संचित धन राशि देकर अपूर्व त्याग का परिचय दिया। चावण्ड को राजधानी बना प्रताप पुनः सेना संगठित कर मुगल सेनानायकों को मेवाड़ से निकाल बाहर करने का प्रयास करने लगे। उन्होंने मुगल सेनापति शाहबाजखां को युद्ध में मार डाला तथा अब्दुल्लाखां को पराजित कर कुम्भलगढ़ को पुनः अधिकृत किया। 1585 ई. में जगन्नाथ कछवाहा के अधीन मेवाड़ में अंतिम मुगल सैनिक अभियान किया गया क्योंकि अकबर का ध्यान पंजाब की ओर आकृष्ट हो गया था और उसे मेवाड़ के लिए समय नहीं मिला। राणा प्रताप ने अजमेर मांडलगढ़ तथा चित्तौड़ के अतिरिक्त समस्त मेवाड़ से मुगलों को निकाल दिया और अपना अधिकार कर लिया। 1597 ई. में राणा प्रताप की मृत्यु हो गयी। मृत्यु के पूर्व

व अपने पुत्र अमरसिंह की अयोग्यता के कारण मेवाड के लिए चिंतित थे, अत जब उनके राजपूत सरदारों ने मेवाड का स्वाधीनता संग्राम निरंतर चलाए रखने का आश्वासन दिया तो राणा संताप से प्राण त्याग सके। राणा प्रताप की वीरता का कर्नल टाड ने इस प्रकार वर्णन किया है— अरावली की पर्वत श्रेणियों में कोई ऐसी घाटी नहीं जिसे कि प्रताप ने अपने वीर कार्यों कोई उल्लेखनीय विजय तथा बहुधा गौरवमयी पराजय से पवित्र न किया हो। मेवाड में हल्दीघाटी थर्मोपल्ली के तथा देवारी मराठन के समान रण क्षेत्र हैं। [1]

1599 ई में अकबर ने शाहजादा सलीम तथा राजा मानसिंह को पुन मेवाड पर आक्रमण करने हेतु भेजा। राणा अमरसिंह पराजित हुआ किंतु बंगाल में विद्रोह दमन के लिए मानसिंह को अकबर द्वारा बुला लिए जाने के कारण मेवाड पर यह अभियान अपूर्ण रहा। महाराणा प्रताप का देहांत चावण्ड में 29 जनवरी 1597 ई को हुआ।

महाराणा प्रताप का मूल्यांकन

महाराणा प्रताप की सैनिक उपलब्धियां एवं मुगल साम्राज्यिक शक्ति के विरुद्ध प्रतिरोध का मूल्यांकन विभिन्न इतिहासकारों ने किया है जिनमें से कुछ के मत विशेष उल्लेखनीय हैं। डा रघुवीर सिंह के अनुसार— 'प्रताप ने अंत तक अपना प्रण निभाया। उसकी दृढ़ता, धीरज, अडिग आत्म विश्वास तथा अनवरत प्रयत्न संसार के इतिहास में अनोखे और अनुकरणीय हैं।' [2] डा गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के शब्दों में— प्रातः स्मरणीय हिंदूपति वीर शिरोमणि महाराणा प्रतापसिंह का नाम राजपूताने के इतिहास में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और गौरवास्पद है। राजपूताने के इतिहास को इतना उज्ज्वल और गौरवमय बनाने का अधिक श्रेय उसी को है। [3] डा गोपीनाथ शर्मा का मत है कि— प्रताप का नाम हमारे देश में स्वाभिमान और देश गौरव के रक्षक के रूप में अमर है। स्वतंत्रता का महान् स्तम्भ होने के नाते सद्कार्यों के समर्थक होने और नैतिक आचरण का वीर होने के कारण आज भी प्रताप का नाम असंख्य भारतवासियों के लिए आशा का बादल है और ज्योति का स्तम्भ है। [4]

वी एस दिवाकर का कथन है कि— राणा प्रताप एक महान् हिंदू नायक ही नहीं बल्कि हिंदू सम्मान और प्रतिष्ठा का सफल रक्षक भी था। " प्रताप ने अपने निर्वासन काल में अनेक कष्ट सहे जिनसे उसका चरित्र और गौरव दोनों आज भी शोभान्वित हैं। [5] महाराणा प्रताप की मृत्यु पर उसके कट्टर शत्रु अकबर ने

1 टाड राजस्थान का इतिहास
2 डॉ रघुवीरसिंह पूर्व आधुनिक राजस्थान
3 गौरीशंकर हीराचन्द ओझा उदयपुर राज्य का इतिहास भाग 1, p 472–74
4 पूर्वोक्त, p 295
5 वी एस दिवाकर राजस्थान का इतिहास, p 169

भी आँसू बहाय थ। अकबर की यह भावना मुगल दरबार म उपस्थित प्रसिद्ध चारण कवि दुरसा आढा ने इस प्रकार व्यक्त की थी—

'गहलोत राण जीत गयो दसण मूद रसणा डसी।
नी सास मूक भरिया नयन तो मृत शाह प्रताप सी।'

अर्थात् 'ह प्रताप ! तेरी मृत्यु पर शाह अकबर ने दाँतो के बीच जीभ दबाई नि श्वास छोडे। उसकी आँखो म आँसू भर आए। गहलात राणा तरी ही विजय हुई।' बी एल पानगडिया के अनुसार— वीर शिरामणि प्रताप के व्यक्तित्व को भला इससे बडी श्रद्धाञ्जलि और क्या हो सकती है।'[1] वस्तुत महाराणा प्रताप एक राष्ट्र नायक थे। व भारतीय सस्कृति के प्रतीक थ। उनका त्याग, बलिदान शौर्य, सहिष्णुता और स्वातन्त्र्य प्रेम आज भी अनुकरणीय है।

1 बी एल पानगड़िया राजस्थान का इतिहास p 19

5 मुगलों से सहयोग की नीति— आम्बेर, बीकानेर व जोधपुर की भूमिका

(Policy of Collaboration with the Mughals– Role of Amber, Bikaner and Jodhpur)

मुगलो से सहयोग की नीति—अकबर की राजपूत-नीति परिणाम (Policy of Collaboration with the Mughals—Result of Akbar's Rajput Policy)

गत् अध्याय म अकबर क नागोर दरबार के सन्दभ म अकबर की राजस्थान के राजपूत शासको के प्रति नीति का प्रसगानुकूल उल्लेख किया जा चुका है। डा गोपीनाथ शर्मा न इस दरबार का महत्त्व प्रकट करते हुए कहा है कि 'यहाँ कई नरश जिनम बीकानेर और जसलमर के नरश मुख्य थे अकबर स मिलने को पहुँचे। आमेर द्वारा जो वैवाहिक सम्बन्ध का सिलसिला आरम्भ हो गया था उसके पद चिह्नो पर चलकर बीकानेर तथा जसलमर क शासको ने अकबर म वैवाहिक सम्बन्ध जोड़े। जो नरश यहाँ आए थ वे एक प्रकार म आश्रित और ममथको की सज्ञा म गिन जाने लगे। जो नरश यहाँ के दरबार म उपस्थित नही हुए थ उनकी मनोवृत्ति का समुचित रूप स परीक्षण हो गया।"[1] अधीनता स्वीकार न करने वाले मारवाड के शासक चन्द्रसेन व मेवाड के राणा उदयसिंह व प्रताप के विरुद्ध उसन आक्रामक नीति अपनाई किन्तु अधीनता स्वीकार करन वाले नरेशो व सामन्तो को उसन उच्च पदो पर आसीन कर उन्ह अपन साम्राज्य विस्तार के कार्य में सहायक बनाया। वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर उसन उनकी अपन प्रति निष्ठा को सुदृढ बनाया।

अकबर की राजपूत नीति व उसके सुखद परिणामो का विवेचन करते हुए डॉ वी एस भार्गव का कथन है कि "अकबर न समझ लिया था कि राजपूतो के

1 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास p 329

साथ मुगल साम्राज्य की सेवा करता रहा।'[1] डा गोपीनाथ शर्मा ने इस विवाह के औचित्य को प्रकट करते हुए अपना मत प्रकट किया है कि 'यह तो सच है कि भारमल ने अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए राजपूत मर्यादा का उल्लंघन किया। परन्तु इस सम्पूर्ण घटना चक्र में हमें भारमल के कार्यों का समर्थन भी पाते हैं। भारमल ने अपनी कन्या का विवाह अकबर के साथ करना निश्चय कर विवेक बुद्धि का परिचय दिया। ऐसा करना समयोचित था।'[2] डा गुप्ता व डा ओझा के शब्दों में निसंदेह यह वैवाहिक सम्बन्ध ऐतिहासिक दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण था। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण पूर्ण नहीं होगा कि इसके फलस्वरूप ही मुगल राजपूत गठबंधन को एक सुदृढ़ आधार मिला। इस नीति का अनुसरण कर राजस्थान के अन्य शासकों ने भी अकबर से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बढ़ाए।[3] भारमल की मृत्यु जनवरी 1573 में हो गई और उसका पुत्र भगवन्तदास गद्दी पर बैठा। अकबर ने उसे भारमल की भाँति पंच हजारी मनसबदार बनाया। भगवन्तदास ने सरनाल के युद्ध में वीरता प्रदर्शित की व पंजाब के सूबेदार के रूप में रहा। उसकी मृत्यु लाहौर में 1589 ई में हुई। उसके बाद उसका पुत्र मानसिंह आमेर का शासक हुआ।

मानसिंह की मुगलों के प्रति की गई सेवाएँ
(Services Rendered by Man Singh to the Mughals)

प्रारम्भिक परिचय एवं सेवाएँ— अकबरनामा में अबुल फजल ने लिखा है कि मानसिंह 12 वर्ष की आयु से ही (1562 ई से) मुगल सेवा में प्रविष्ट हो गया था और अकबर के संरक्षण में रहकर उसने सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त कर अपनी वीरता व योग्यता का प्रदर्शन किया। कुंवर की हैसियत से उसकी सेवाएं निम्नांकित थीं—

(i) 1569 में रणथम्भौर दुर्ग पर आक्रमण के समय अकबर के साथ भगवन्तदास व उसका पुत्र मानसिंह थे। सुजन हाडा से वार्ता को संधि के रूप में सफल बनाने में पिता पुत्र दोनों का योगदान रहा।

(ii) 1572 में अकबर के आदेश से मानसिंह ने गुजरात से ईडर जाते हुए विद्रोही शेरखाँ के लड़कों को पराजित कर उन्हें लूटा।

(iii) अकबर के गुजरात अभियान में मानसिंह सेना की अग्रिम पंक्ति में रह कर बड़ा सरनाल के युद्ध में वीरता प्रदर्शित की तथा सूरत बन्दरगाह की रक्षा की।

(iv) 1573 में मानसिंह ने डूंगरपुर के राव आसकरण को पराजित कर उसे लूटा तथा लौटते समय अकबर के आदेश से उसने मेवाड़ के राणा प्रताप से वार्ता की जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है।

1 डा रघवीरसिंह एवं आधुनिक राजस्थान
2 पूर्वोद्धृत p 359
3 डॉ गुप्ता व डॉ ओझा राजस्थान का इतिहास, पृ 100

(v) 1573 में उसे पुनः गुजरात भेजा गया किन्तु गुजरात विजय होने से उस मार्ग में ही वापस बुला लिया गया और बिहार में दाऊदखाँ के विद्रोह दमन हेतु भेजा जिसमें वह सफल रहा।

(vi) हल्दीघाटी युद्ध में मुगल सेनापति के रूप में—1576 में अकबर ने राणा प्रताप के विरुद्ध सेनापति के रूप में भेजा जिसका विस्तृत विवरण पिछले अध्याय में दिया गया है। हल्दी घाटी के युद्ध में मुगलों को पूर्ण सफलता न मिलने पर अकबर मानसिंह से रुष्ट रहा किन्तु उसे क्षमा कर पुनः अभियानों पर भेजा।

(vii) त्राचीवाड़े के विद्रोह को सफलता से दमन करने पर मानसिंह को अकबर ने 3500 का मनसब प्रदान किया।

(viii) उत्तर पश्चिमी सीमान्त भाग का सूबेदार—1580-81 में मानसिंह ने उत्तर पश्चिमी प्रान्त के सूबेदार के रूप में काबुल पर अधिकार कर अफगान विद्रोहियों का दमन किया। उसे पंच हजारी मनसब दिया गया।

(ix) 1587 में मानसिंह को बिहार का सूबेदार बनाया गया जहाँ वह 7 वर्ष रहा। उसने स्थानीय जमींदारों के विद्रोह का दमन किया।

आम्बेर के शासक के रूप में मानसिंह की सेवाएँ—अपने पिता भगवन्तदास की 1589 में मृत्यु के समय मानसिंह बिहार का सूबेदार था। वह आमेर गया जहाँ उसका राज्यारोहण समारोह हुआ जिसमें अकबर ने टीका भेज कर उसका 5000 का मनसब पक्का कर दिया। पुनः बिहार लौटकर उसने गिधौर के राजा को मुगल सत्ता के अधीन किया और सम्राट् को उसने बहुमूल्य वस्तुएँ भेंट की। गिधौर के राजा ने अपनी पुत्री का विवाह मानसिंह के भाई चन्द्रभान से किया। 1590 में मानसिंह ने खड़गपुर के राजा संग्रामसिंह, शम्सपुर के सय्यदों व हाजीपुर के राजा गनपत को हराया व उनके प्रदेश को अधिकृत किया। मानसिंह के पुत्र जगतसिंह ने पूर्वी बिहार के पूर्णिया, ताजपुर, दरभंगा आदि प्रदेशों पर हुए बंगाल के सुल्तान कतलू के आक्रमण को विफल किया। बिहार के सूबेदार के रूप में 1590 से 1592 तक उसने अफगान विद्रोहियों का पीछा कर उड़ीसा पर भी अधिकार किया। उसने जलेश्वर को भी जीता।

1594 में मानसिंह को बंगाल का सूबेदार बनाया गया। उसने पुरानी राजधानी टाण्डा को छोड़कर नई राजधानी का नगर राजमहल बनवाया। 1596 में उसने कूचबिहार के राजा लक्ष्मी नारायण को पराजित व अधीन बना कर उसकी बहिन अबलादेवी से विवाह किया। इसमें उसे बंगाल के अन्य भागों का अधिकृत कर वहाँ शान्ति स्थापित करने में सफलता मिली।

1596 में मानसिंह बीमार होने के कारण अजमेर में रह कर बंगाल सूबे का कार्य देखता रहा जहाँ उसका प्रतिनिधि पुत्र जगतसिंह था। अजमेर रहते हुए वह अपने राज्य आमेर तथा शाहजादा खुसरो (जो उसका भानजा था) के हितों की

रक्षा कर सकता था तथा विद्रोही शाहजादा सलीम की गतिविधियों पर भी नजर रख सकता था। 1599 में उसके पुत्र जगतसिंह की मृत्यु होने पर उसे गहरा शोक हुआ। 1605 में अकबर की मृत्यु से मानसिंह का दिन और भी टूट चुका था। *1614* में एलीचपुर में उसकी मृत्यु हो गई। सलीम जब जहाँगीर के रूप में सम्राट बना तो उसका महत्व कम हो गया।

मानसिंह के व्यक्तित्व का मूल्यांकन—विभिन्न इतिहासकारों ने मानसिंह की मुगलों के प्रति की गई सेवाओं का मूल्यांकन भिन्न भिन्न दृष्टिकोण से किया है। सुखवीरसिंह गहलोत के शब्दों में जीवन भर वफादारी से सेवा करने के बाद भी मानसिंह अपनी युवा बहिन और पोती का मुगल खानदान में विवाह करके भी बादशाह का पूर्ण विश्वासपात्र नहीं बन सका। जहाँगीर तो उससे घृणा करता था और उसे पाखण्डी भेड़िया ही कहता था।'[1] ओझा के अनुसार 'अकबर ने राजपूतों से विवाह सम्बन्ध जोड़कर तथा आमेर के राजा भगवानदास के भतीजे मानसिंह को अपना विश्वासपात्र बना कर मुगल साम्राज्य की नींव सुदृढ़ कर ली। मानसिंह अकबर के विश्वासपात्र स्तम्भों में से एक था।'[2] कर्नल टाड का मत है कि राजा *भगवतदास व मानसिंह के समय कछवाहा लोगों ने अपने बल पराक्रम व वैभव की* प्रतिष्ठा की थी। मानसिंह बादशाह की अधीनता में था लेकिन उसके साथ काम करने वाली सेना बादशाह की सेना से अधिक शक्तिशाली समझी जाती थी।[3] डा रघुवीरसिंह के अनुसार 'मानसिंह के शासनकाल में आमेर राज्य की सीमाएँ पूर्ववत बनी रही तथापि बंगाल बिहार की सूबेदारी के समय में मानसिंह के निजी ऐश्वर्य व सम्पत्ति में महान् वृद्धि हुई। इस राजघराने की अटूट समृद्धि का तभी से आरम्भ हुआ था।'[4] डा गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में उसमें सैनिक क्षमता और *राजनीतिज्ञता का अच्छा सामंजस्य था अपने पद को सम्भाल रखने की इतनी* लगन थी कि वह बहुत कम समय अपने पैतृक राज्य के लिए दे पाया था। ये वचन मानसिंह की प्रशासनिक सैनिक व कूटनीतिक योग्यता के द्योतक है।

कला संस्कृति व धर्म के क्षेत्र में भी उसकी अमूल्य देन रही है जिसका उल्लेख आगामी अध्यायों में यथा प्रसंग किया जाएगा। यहाँ फर्ग्युसन के ये शब्द उद्धृत करना ही पर्याप्त होगा कि 'मानसिंह के पास कई कवि व पंडित आश्रय पाते थे। वह कला पारखी व साहित्य संरक्षक था। नगरों तथा महलों जलाशयों व मंदिरों के निर्माण में मानसिंह राजपूत राजाओं में सबसे आगे था।'

अन्य आमेर के शासकों की मुगलों से सहयोग की नीति

(1) मिर्जा राजा जयसिंह (1621-1667)—मानसिंह की मृत्यु के बाद भावसिंह (1614-1621) आमेर का शासक बना। उसकी मृत्यु के बाद उसका

1 सुखवीरसिंह राजस्थान का संक्षिप्त इतिहास
2 ओझा जयपुर राज्य का इतिहास
3 टॉड राजस्थान का इतिहास
4 *डॉ रघुवीरसिंह पूर्व आधुनिक राजस्थान*

भतीजा (महासिंह का पुत्र) जयसिंह शासक बना। उसने जहाँगीर शाहजहाँ व औरंगजेब के समय अपनी सेवाएँ देकर आमेर का गौरव बढ़ाया। 1623 में अहमद नगर की रक्षार्थ लड़ रहे मलिक अम्बर के विरुद्ध तथा 1625 में दलेलखाँ पठान के विरुद्ध युद्ध में वीरता प्रदर्शित की। शाहजहाँ के राज्यकाल में उसने महाबन के जाटों का विद्रोह दमन किया 1629 में उजबेगों का विद्रोह दमन किया तथा 1630 से 1636 तक दक्षिण अभियान में वीरता से युद्ध किए। 1647 व 1649 से 1653 तक उसने शाहजहाँ के मध्य एशियाई अभियान में अपनी वीरता दिखाई। उत्तराधिकार के युद्ध में उसने औरंगजेब का साथ देकर शुजा व दारा को पराजित कर अपना रण कौशल व कूटनीतिज्ञता का परिचय दिया। दक्षिण में मराठों के विरुद्ध उसने कूटनीति से शिवाजी से 1665 में पुरन्धर की संधि कर शिवाजी को आगरा ले जाने में सफलता मिली किन्तु उसके पुत्र द्वारा शिवाजी को आगरा से भगाने में सहायता देने पर उसे औरंगजेब की अप्रसन्नता का सामना करना पड़ा। 1665 में उसे दक्षिण का सूबेदार बनाया गया किन्तु 1666 में बीजापुर पर आक्रमण विफल रहा। 1667 में बुरहानपुर के पास जयसिंह का देहान्त हो गया।

(ii) जयसिंह द्वितीय (1700–1743)—मिर्जा राजा जयसिंह के बाद उसका पुत्र रामसिंह आमेर की गद्दी पर बैठा। प्रारम्भ में शिवाजी के मामले में वह औरंगजेब का कोपभाजन बना जिसके कारण उसे दूरस्थ सूबे आसाम में नियुक्त किया गया जहाँ उसकी मृत्यु 1668 में हुई। उसके बाद उसका पौत्र बिशनसिंह आमेर का शासक बना। उसे औरंगजेब ने मथुरा तथा हिंडोन व बयाना का फौजदार बनाया। बिशनसिंह ने जाटों का विद्रोह दमन किया। उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त में दिसम्बर 1699 में उसके देहान्त के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र जयसिंह द्वितीय आमेर का शासक बना। उसके दक्षिण में कोण्डनीखुज को जीतने पर औरंगजेब ने उसे सवाई की उपाधि से सम्मानित किया। औरंगजेब की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार युद्ध में 20 जून, 1707 को जाजऊ नामक स्थान पर हुए युद्ध में पहले जयसिंह द्वारा आजम का पक्ष लेने के कारण मुअज्जम (जो बहादुरशाह के नाम से सम्राट बना) का वह कोप भाजन बना। आमेर पर सम्राट ने अधिकार कर उसका नाम मोमिनाबाद रख दिया किन्तु बाद में जयसिंह द्वितीय को उसका राज्य लौटा कर उसे पुनः मुगल सेवा में ले लिया गया। इस प्रकार आमेर की भूमिका मुगल राजपूत सम्बन्धों का आधार बनी।

मुगलों से सहयोग की नीति में बीकानेर की भूमिका
(Bikaner's Role in the Policy of Collaboration with the Mughals)

अथवा

बीकानेर के महाराजा रायसिंह की मुगल साम्राज्य के लिए सेवाएँ
(Services Rendered by Maharaja Raisingh of Bikaner to the Mughal Empire)

महाराजा रायसिंह का प्रारम्भिक जीवन

पृष्ठभूमि—महाराजा रायसिंह के बीकानेर का शासक बनने के पूर्व की

स्थिति का सिंहावलोकन करना मुगलो से सहयोग की नीति मे बीकानेर की भूमिका समझने मे सहायक होगी। रायसिंह के पितामह राव जैतसी के राज्यकाल (1526-1542 ई.) मे जब हुमायू शेरशाह से हार कर मारवाड़, सिंध व गुजरात मे अपनी शक्ति का सचय कर रहा था तब उसके भाई कामरान ने बीकानेर पर आक्रमण किए कि तु उसे पीछे धकेल दिया गया। ऐसी स्थिति मे जोधपुर के राव मालदेव ने राज्य विस्तार की दृष्टि से अपने सेनापति कूपा को बीकानेर पर आक्रमण हेतु भेजा। राव जैतसी युद्ध करते हुए मारा गया और उसके पुत्र कल्याणमल ने शेरशाह से सहायता की याचना की कि तु जब शेरशाह व मालदेव का सघर्ष होने वाला था तो कूपा व जोधपुर के सैनिको के जोधपुर लौट जाने पर कल्याणमल ने पुन बीकानेर पर अधिकार कर लिया। राव कल्याणमल ने भटनेर दुर्ग जीत लिया। अकबर के सम्राट बनते ही स्थिति मे परिवर्तन आया और मुगलो ने राजस्थान की ओर विजय अभियान किया। अकबर के हिसार के सूबेदार निजामुद्दीन ने भटनेर पर अधिकार कर लिया। भटनेर का हाकिम ठाकुरसी लडता हुआ मारा गया कि तु उसके पुत्र बाघा ने मुगलो की अधीनता स्वीकार कर ली थी, अत भटनेर उसे सौंप दिया गया। इस घटना से राव कल्याणमल मुगलो से आतकित हो गया।

अकबर जब 1570 मे नागौर आया तो अकबर से मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने हेतु राव कल्याणमल अपने पुत्र रायसिंह के साथ नागौर आया और अकबर से भेंट की। अकबर ने राठौडो की फूट से लाभ उठाया और कल्याणमल की मुगलो की अधीनता की प्रार्थना स्वीकार कर ली। कल्याणमल ने अपने छोटे पुत्र पृथ्वीराज को अकबर के दरबार मे भेज दिया जिसे अकबर ने नागरोन का किला जागीर मे दिया। 1574 मे कल्याणमल की मृत्यु के बाद रायसिंह बीकानेर की गद्दी पर बैठा। इसके पूर्व 1572 मे अकबर ने जोधपुर दुर्ग पर अधिकार कर चन्द्रसेन को वहा से भगाकर जोधपुर के प्रशासक पद पर रायसिंह को नियुक्त किया।

बीकानेर की मुगल अधीनता स्वीकार कर अकबर की सेवा मे आने के इस कृत्य पर विभिन्न इतिहासकारो ने टिप्पणियाँ की हैं जो उल्लेखनीय हैं। ओझा का कथन है कि जिन मुसलमानो की सहायता से वह अपना गया हुआ राज्य वापस पा सका था उनकी शक्ति को वह खूब अच्छी तरह से समझ गया था। वास्तव मे राव कल्याणमल का यह कार्य बहुत बुद्धिमानी का हुआ जिससे अकबर और जहागीर के समय शाही दरबार मे जयपुर के बाद बीकानेर का ही बडा सम्मान रहा।[1] डा गोपीनाथ शर्मा के अनुसार भटिण्डा के बीकानेर के अधिकार से निकल जाने से राव कल्याणमल की सैनिक स्थिति निर्बल हो चली थी और उसकी भी मनोवृत्ति आश्रित रहने मे राज्य का हित समझती थी। इसीलिए पहले उसने पठानो का और तदनतर मुगलो का आश्रय ढूढना अपने तथा अपने राज्य के लिए श्रेयस्कर समझा।'[2]

1 गौरीशकर हीरानद ओझा बीकानेर राज्य का इतिहास p 133-135
2 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास पृ 215

युवराज के रूप में मुगल सेवाएँ—राव रायसिंह को युवराज काल में ही 1572 में अकबर ने जोधपुर का अधिकारी बना दिया था। डा. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार वह 1588 तक इस पद पर बना रहा। 1572 में ही गुजरात अभियान में रायसिंह अकबर के साथ था। जब इब्राहीम हुसैन मिर्जा मालवा व गुजरात से मुगल सेना पराजित हो नागौर पहुँचा तो रायसिंह ने उसे बुरी तरह हराया। 1573 में गुजरात को दूसरे अभियान में भी रायसिंह अकबर के साथ गया। मिर्जा को बन्दी बना कर रायसिंह को सौंपा गया जिसने मिर्जा का वध करा दिया। अबुल फजल व दलपत विलास के अनुसार अहमदाबाद के निकट हुए युद्ध में वीरता प्रदर्शित करने पर अकबर ने उसे पुरस्कृत किया और उसे सिरसा, हाँसी व मारोठ के परगने दिए जिनकी वार्षिक आय एक लाख बीस हजार थी।

शासक के रूप में मुगल सेवाएँ—तारीख फरिश्ता' के अनुसार बीकानेर की गद्दी पर बैठने पर रायसिंह को अकबर ने राजा की उपाधि तथा 22 परगने जागीर में दिए।

1574 में सिवाना दुर्ग पर चन्द्रसेन के अधिकार कर लेने पर उसके विरुद्ध रायसिंह को अकबर ने भेजा। रायसिंह ने कूटनीति से काम लिया व चन्द्रसेन के समर्थक कल्ला को योजना छोड़ने हेतु विवश किया और अन्त में उसे अपने पक्ष में कर चन्द्रसेन की शक्ति कम करदी जिससे शाहबाजखाँ के नेतृत्व में मुगल सेना ने सिवाना दुर्ग जीत लिया। 1576 में जालोर के ताजखाँ व सिरोही के सुरताण देवड़ा के विद्रोह दमन हेतु रायसिंह को भेजा गया जिसने उन्हें मुगल अधीनता स्वीकार करने पर विवश किया किन्तु सुरताण के भाग जाने पर पुनः रायसिंह को ही उसके विरुद्ध भेजा जिसने सुरताण को गाँव में बन्दी बना कर अकबर के समक्ष प्रस्तुत किया तथा सिरोही के दो भाग कर उन पर क्रमशः सुरताण व जगमाल का अधिकार रखा गया। किन्तु सुरताण द्वारा जगमाल को हरा देने पर पुनः मुगल व सुरताण संघर्ष चलता रहा जिसमें रायसिंह की भूमिका प्रमुख रही।

1581 में रायसिंह को काबुल के शासक हकीम मिर्जा का दमन करने हेतु तथा अटक, बंगाल, बलूचिस्तान, सिंध, दक्षिण आदि पर सैनिक अभियानों में भेजा गया। रायसिंह को पंजाब (1583) खानदेश (1585) व लाहौर (1586) का सूबेदार भी बनाया गया। 1600 में नागौर परगना रायसिंह को मिला। 1601 में नासिक व 1603 में मेवाड़ के अभियानों में भी रायसिंह ने वीरता प्रदर्शित कर अकबर से जागीरें प्राप्त कीं।

जहाँगीर के समय बीकानेर मुगल सम्बन्ध अधिक मधुर न रहे। खुसरो के विद्रोह दमन के आदेश की अवहेलना कर रायसिंह ने जहाँगीर के विरोधियों को बीकानेर में आश्रय दिया। 1608 में जहाँगीर की सुदृढ़ता देखकर रायसिंह पुनः मुगल सेवा में आ गया और साम्राज्य विस्तार में सहयोग किया जिससे प्रभावित हो जहाँगीर ने उसे पंच हजारी मनसबदार बनाया। 22 जनवरी, 1612 में रायसिंह की मृत्यु बुरहानपुर में हो गई।

रायसिंह का चरित्र एवं उपलब्धियों का मूल्यांकन
(Evaluation of Raisingh's Character and Achievements)

डॉ. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने रायसिंह की वीरता का मूल्यांकन करते हुए कहा है कि थोड़े समय में ही अपने वीरोचित गुणों के कारण वह अकबर का प्रीति पात्र और विश्वास भाजन बन गया। बादशाह की तरफ से अनेकों चढ़ाइयों में वह भी साथ था। अधिकतर शाही सेना में संलग्न रहने पर भी वह अपने राज्य की तरफ से कभी उदासीन न रहा और उधर के उपद्रवी सरदारों पर उसने कड़ी नजर रखी। शाही दरबार में उस समय जयपुर को छोड़कर बीकानेर से ऊँचा सम्मान अन्य किसी राज्य का न था।" उसके वीरता आदि गुणों पर विमुग्ध होकर अकबर ने उसे कई बार जागीरें प्रदान दी थी।[1]

डॉ. गोपीनाथ शर्मा ने रायसिंह के अन्य गुणों का उल्लेख करते हुए कहा है कि वीरोचित गुणों के साथ साथ रायसिंह को साहित्य में भी बड़ा अनुराग था। वह स्वयं कवि था और कवियों एवं साहित्यकारों का आश्रयदाता था। रायसिंह को भवन निर्माण में बड़ी रुचि थी। बीकानेर के सुदृढ़ किले के निर्माण की आज्ञा उसने अपने मंत्री कर्मचन्द को दी जिसके निर्माण में लगभग पाँच वर्ष लगे। उसके समय में अनेक मंदिरों के निर्माण हुए और उनका जीर्णोद्धार हुआ जिनमें बीकानेर का जैन मन्दिर मुख्य है। प्रजापालक गुणों का उल्लेख दयालदास की ख्यात में इस प्रकार मिलता है "प्रजा के कष्टों के निवारण की ओर भी उसने समय समय पर ध्यान दिया। राज्य के उपद्रवी सरदारों पर वह कड़ी नजर रखता था।"[2] रायसिंह की स्वरचित कृतियों में *रायसिंह महोत्सव* व *ज्योतिष रत्नमाला* (बाल बोधिनी) नामक टीका ग्रंथ प्रमुख है। उसके एक आश्रयदाता कवि ने 'राजा रायसिंह रा वेल' पुस्तक लिखी, जैन साधु ज्ञानविमल ने 'शब्द भेद' टीका लिखी तथा रायसिंह के भाई पृथ्वीराज ने 'वेलि कृष्णरुक्मणीरी' काव्य ग्रंथ की रचना की। वह आश्रित कवियों व विद्वानों को जागीरें व करोड़ पसाव के दान दिया करता था। उसकी धर्म सहिष्णुता का प्रमाण उसके द्वारा जैन मंदिरों का निर्माण व जीर्णोद्धार के कार्य थे।

रायसिंह के उत्तराधिकारी पुत्र दलपत व सूरसिंह ने भी मुगल सेवाएँ कीं। 1615 ई. तक बीकानेर मुगल सम्बन्ध मधुर बने रहे।

1 डॉ. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : बीकानेर राज्य का इतिहास
2 डॉ. गोपीनाथ शर्मा : राजस्थान का इतिहास p 406–407
3 दयालदास की ख्यात, पृ. 32

मुगलों से सहयोग की नीति में जोधपुर की भूमिका
(Jodhpur's Role in the Policy of Collaboration with the Mughals)
अथवा
जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह की मुगल साम्राज्य के लिए सेवाएँ
(Services Rendered by Maharaja Jaswant Singh of Jodhpur to the Mughal Empire)

जोधपुर मुगल सम्बन्ध की पृष्ठभूमि

डा. गोपीनाथ शर्मा ने मारवाड़ (जोधपुर) की मुगलों से सहयोग की नीति की पृष्ठभूमि दर्शाते हुए कहा है कि 1581 ई. में राव चन्द्रसेन की मृत्यु हो जाने पर अकबर की स्थिति मारवाड़ में बड़ी सन्तोषजनक थी। कई राठौड़ सरदार उसके मनसबदार बन चुके थे तथा मालदेव के अन्य पुत्र उसके आश्रय में थे। रिक्त गद्दी पर वैसे तो बड़े भाई उदयसिंह का हक था परन्तु राजनीतिक परिस्थिति में अधिक स्थायित्व लाने के लिए लगभग तीन वर्ष तक जोधपुर के राज्य को खालसा में रखा गया। यह कदम राजपूत नीति के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण अंग था। सम्राट ने इस प्रकार के व्यवहार से इस बात का स्पष्टीकरण किया था कि राजपूत राज्य जो मुगल राज्य से सन्धि कर लेते हैं उसके पूर्ण आश्रित हैं। गद्दी के अधिकार की मान्यता या अमान्यता सम्राट की इच्छा पर निर्भर है।[1] अतः उचित समय पर अकबर ने 1583 ई. में उदयसिंह को जोधपुर राज्य खिलअत व खिताब सहित सौंप दिया।

उदयसिंह (1583–1595)—उदयसिंह जिसे मोटा राजा के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है, ने अपनी पुत्री मानीबाई का विवाह शाहजादे सलीम के साथ कर दिया जो 'जगत गुसाईं' के नाम से प्रसिद्ध हुई। उसे 'जोधाबाई' भी कहा जाता था। उदयसिंह को एक हजार का मनसब दिया गया। 'जोधपुर के राज परिवार में यह प्रथम व्यक्ति था जिसने मुगलों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर अपने प्रभाव को मुगल व्यवस्था में बढ़ाने की चेष्टा की थी। इसने मालदेव के समय से आरम्भ होने वाली सतत् युद्ध की स्थिति को समाप्त कर मारवाड़ को शान्ति और सुख से साँस लेने का अवसर दिया। परन्तु इतना अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि इस शान्ति का मूल्य राठौड़ वंश के गौरव के बलिदान द्वारा चुकाया गया।'[2]

उदयसिंह ने 1577 में मधुकर बुन्देले के विरुद्ध 1584 में गुजरात के बागी सरदार मुजफ्फर दौलत के विद्रोह दमन व 1588 व 1593 में सिरोही के सुरताण के विरुद्ध अपनी वीरता का प्रदर्शन किया। 1592 में उसे लाहौर का प्रबन्धक बनाया गया।

महाराजा सूरसिंह (1595–1619 ई.)—सूरसिंह को उसके बड़े भाइयों के होते हुए भी अकबर ने जोधपुर का शासक नियुक्त किया व उसे दो हजार का मनसब

1-2 पूर्वोक्त, पृ. 433–434

दिया। उसने अकबर के समय गुजरात के प्रबन्ध व 1597 में विद्रोही बहादुर के दमन में सहयोग दिया। 1599 में दक्षिण अभियान पर न जाने पर उससे साम्भर छीन लिया गया किन्तु जब उसे सोजत पुनः मिल गया तो उसने नासिक अभियान व खुदावाद के विद्रोह दमन में वीरता दिखाई। जहाँगीर के समय 1613 में खुर्रम के मेवाड़ व दक्षिण अभियानों में भाग लिया व अपना मनसब बढ़वाया।

महाराजा गजसिंह (1619–1638)—सूरसिंह की दक्षिण में मृत्यु हो जाने के बाद उसके पुत्र गजसिंह ने दक्षिण अभियान खुर्रम के विरुद्ध खानजहाँ लोदी के विरुद्ध तथा बीजापुर व कन्धार के अभियानों में वीरता प्रदर्शित की। उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र अमरसिंह के स्थान पर दूसरे पुत्र जसवन्तसिंह को अपना उत्तराधिकारी बनाया। अमरसिंह राठौड़ को शाहजहाँ ने अपना मनसबदार बनाया किन्तु 1644 में उसने शाही दरबार में सलावतखाँ को मार डालने पर उसकी हत्या कर दी गई। गजसिंह की आगरा में 1638 में मृत्यु के बाद उसका पुत्र जसवन्तसिंह जोधपुर की गद्दी पर बैठा।

महाराजा जसवन्तसिंह की मुगल साम्राज्य के लिए सेवाएँ
(Services rendered by Maharaja Jaswant Singh to the Mughal Empire)

राज्यारोहण—महाराजा जसवन्तसिंह का जन्म 26 दिसम्बर, 1626 ई. में हुआ था। वह 12 वर्ष की आयु में 25 मई 1638 को गद्दी पर बैठा। आगरा में शाहजहाँ ने उसे टीका व खिलअत प्रदान की। उसे चार हजार का मनसब दिया गया। उसने शाहजहाँ व औरंगजेब के समय मुगल साम्राज्य की अमूल्य सेवाएँ की।

उत्तराधिकार युद्ध शाहजहाँ के पक्ष में जसवन्तसिंह की सेवाएँ—जसवन्तसिंह को पहले जमरूद व दारा के साथ कन्धार अभियान में भेजा गया। 1645 में वह आगरा का सूबेदार बना। 1649 में पुनः उसे कन्धार भेजा गया जिसमें सफलता प्राप्त करने पर शाहजहाँ ने उसे महाराजा की उपाधि दी व मनसब में वृद्धि की। उत्तराधिकार के युद्ध के समय वह शाहजहाँ व दारा का कृपापात्र था। डा. वी. एस. भार्गव के अनुसार *1657 में उत्तराधिकार संघर्ष के समय महाराजा जसवन्तसिंह को हिन्दुस्तान के राजाओं में श्रेष्ठ एवं फौजी सम्मान तथा रौबदाब में प्रथम समझा जाता था। शाहजहाँ उसे सही रूप में मुगल साम्राज्य का स्तम्भ समझता था। विद्रोही औरंगजेब व मुराद के विरुद्ध सैनिक अभियान का भार जसवन्तसिंह पर ही डाला गया था।*[1]

विद्रोही शाहजादे मुराद व औरंगजेब क्रमशः गुजरात व दक्षिण से शाहजहाँ की बीमारी की खबर सुनकर आगरा आ रहे थे तो शाहजहाँ ने उन्हें रोककर अपने प्रान्तों में भेजने हेतु जसवन्तसिंह को आदेश दिया। जसवन्तसिंह इस हेतु 6 फरवरी,

1 डॉ. वी. एस. भार्गव राजस्थान का इतिहास, p. 233
2 मारवाड़ की ख्यात

1658 को उज्जैन पहुँचा। उसके साथ दारा कासिम खाँ मुकुन्दसिंह हाडा रत्नसिंह राठौड आदि सेनापति थे। औरंगजेब ने उसके मार्ग न रोकने की वार्ता जसवंतसिंह से की जो स्वीकृत नहीं की गई। फलत उज्जैन से 15 मील दूर धरमत नामक स्थान पर 16 अप्रैल 1658 मे दारा सेनाओं म युद्ध हुआ जिसमे जसवंत सिंह हार कर जोधपुर चला गया। इस कायरता के लिए उसकी उदयपुरी रानी ने उसे अपमानित किया। किन्तु इस घटना को डा ओझा व रेऊ व डा गोपीनाथ शर्मा असत्य मानते हैं। प रेऊ का कथन है कि "बर्नियर ने यह कथा राजपूत वीरांगनाओं की तारीफ मे सुनी सुनाई किंवदंतियों के आधार पर ही लिखी है और मुन्तखब उत तवारीख के लेखक ने हिंदू नरेश की वीरता को मुनाव में डालने का उद्योग किया है।[1] डा गोपीनाथ शर्मा के अनुसार 'राजपूत वीरांगनाए अपने पति के साथ किसी भी स्थिति म इस प्रकार अपमानजनक व्यवहार नहीं कर सकती ऐसी स्थिति म जोधपुर के दुर्ग के द्वार बंद कर जसवंतसिंह को अपमानित करना तथा उदयपुर से या बूंदी से उसकी माँ का आना कपोल कल्पित ही दिखाई देता है।'[2]

धमत के युद्ध म औरंगजेब की विजय उसके तोपखाने के कारण हुई। यदुनाथ सरकार का कथन है कि "वास्तव मे यह तलवार और बारूद का युद्ध था जिसम तोपखाने ने घुड़सवारों को रौंद डाला।"[3] उत्तराधिकार के इस युद्ध मे भाई-भाई राजगद्दी के लिए लडे। एस आर शर्मा के अनुसार 'मुगल खानदान की यह दुखद कहावत सी बन गई थी कि राजा के लिए कोई आत्मीय नहीं है। इस घातक युद्ध म जो भाई शामिल हुए थ उनका भी यही नारा था कि तख्त या तख्ता ताज या कफन।'[4] इस युद्ध का कारण शाही फौज के विश्वासघात व षड्यन्त्र को मानते हुए कर्नल टाड का मत है कि 'मारकाट के थोडे ही समय बाद जसवंतसिंह के साथ आगरे में जो मुगल सेना आई थी और कासिमखाँ जिसका सेनापति था वह जसवंतसिंह की सेना से निकल कर औरंगजेब की फौज के साथ मिल गई।'[5]

धमत युद्ध मे विजयी हो औरंगजेब बादशाह बन गया जिससे जोधपुर मुगल सम्बन्ध पर विपरीत प्रभाव पडा। वी एस भार्गव का यह मत दृष्टव्य है कि अब विद्रोही राजकुमार बादशाह बन गया था। धरमत की पराजय ने जसवंतसिंह की 20 साल की मेहनत पर पानी फेर दिया। औरंगजेब उसे सन्देह की नजर से देखने लगा। महाराजा के हृदय मे भी मुगलो की सेवा का वह उत्साह नहीं रहा और औरंगजेब को भी आगे कभी राजा पर पूरा विश्वास नहीं हो सका। इस प्रकार धरमत का युद्ध दिल्ली और जोधपुर के मित्रतापूर्ण सम्बन्धो के बीच एक दरार बना गया जो धीरे धीरे और चौडी होती गई।[6]

1 प रेऊ मारवाड का इतिहास भाग-1 पृ 224-25
2 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास p 440
3 यदुनाथ सरकार औरंगजेब, भाग-1 पृ 355
4 एस आर शर्मा भारत में मुस्लिम साम्राज्य, पृ 425
5 कर्नल टॉड राजस्थान का इतिहास पृ 384
6 वी एस भार्गव राजस्थान का इतिहास पृ 246

औरंगजेब के समय जसवन्तसिंह की सेवाएँ

औरंगजेब से असहयोग—औरंगजेब के सम्राट बनने पर जसवन्तसिंह मार्च 1659 में उसकी सेवा में उपस्थित हुआ। मिर्जा राजा जयसिंह की मध्यस्थता से औरंगजेब ने जसवन्तसिंह को गुजरात का सूबेदार बनाया। इसके पूर्व जसवन्तसिंह 5 जनवरी, 1659 को औरंगजेब के साथ विद्रोही शुजा के विरुद्ध खजवा के युद्ध में भी सम्मिलित हुआ किन्तु शुजा से गुप्त समझौता कर औरंगजेब की सेना पर आक्रमण करने हेतु तैयार हो गया था किन्तु शुजा द्वारा समझौते के अनुसार कार्य न करने तथा औरंगजेब को इस षडयन्त्र के विषय में ज्ञात होने के भय से जसवन्तसिंह भाग कर इटावा होता हुआ मारवाड चला गया। डॉ. गुप्ता व डॉ. ओझा ने जसवन्तसिंह के इस कार्य को विश्वासघात न मानकर यथोचित बताते हुए कहा है कि खफीखाँ व अन्य इतिहासकारों ने जसवन्तसिंह की युद्ध क्षेत्र की नीति को विश्वासघात की संज्ञा दी है परन्तु मारवाड की ख्यात, आकिलखाँ आदि ने इस विश्वासघात नहीं माना है क्योंकि इनके अनुसार जसवन्तसिंह का उद्देश्य शाहजहाँ को पुनः मुगल बादशाह बनाना था।[1]

औरंगजेब ने जसवन्तसिंह को दण्डित करने हेतु नागौर के शासक अमरसिंह के पुत्र रायसिंह को जोधपुर का शासक नियुक्त किया जिससे राठौड़ों में फूट पड़ जाए। जसवन्तसिंह ने खजवा में लूटे हुए धन से सैनिक संगठन बनाया तथा अहमदाबाद से दारा को आमन्त्रित किया व शाहजहाँ को पुनः सम्राट बनाने का आश्वासन दिया। दारा सिरोही पहुँचा व राणा से सहायता माँगी। औरंगजेब ने तब मिर्जा राजा जयसिंह को पत्र लिखकर जसवन्तसिंह को अपनी अधीनता में लाने का प्रयत्न करने को कहा। जसवन्तसिंह को जोधपुर राज्य, लूट का धन व गुजरात की सूबेदारी का आश्वासन भी दिया। अतः जयसिंह के प्रयत्न से जसवन्तसिंह ने अपनी नीति परिवर्तित कर दारा को सहायता न दी। 12 मार्च 1659 ई. को अजमेर के पास दौराई के युद्ध में दारा की पराजय हुई। जसवन्तसिंह को अपना राज्य, मनसब व गुजरात की सूबेदारी मिल गई। फारसी इतिहासकारों ने जसवन्तसिंह पर दारा से विश्वासघात करने का आरोप लगाया है किन्तु डॉ. वी. एस. भार्गव ने इस नीति का समर्थन किया है क्योंकि इस नीति से मारवाड़ का विनाश होने से बचाव हो गया।[2]

औरंगजेब से पुनः सहयोग—*गुजरात की सूबेदारी (1659-1661 ई.)* की अवधि में सर्वप्रथम उसने दारा द्वारा उत्पन्न अशान्ति व अकाल की स्थिति को सुधारा जिसके उपलक्ष्य में औरंगजेब ने उसे महाराजा की उपाधि दी। इसके बाद उसे दक्षिण में शिवाजी के विरुद्ध शाइस्ताखाँ की मदद करने के लिए भेजा गया। दक्षिण में 1662 से 1665 ई. तक जसवन्तसिंह की उपस्थिति में भी शिवाजी शाइस्ताखाँ पर हमला करने में सफल रहा। अतः उसे शाइस्ताखाँ के स्थान पर नए

1 डॉ. गुप्ता व डॉ. ओझा : राजस्थान का इतिहास—एक सर्वेक्षण, पृ. 111
2 डॉ. वी. एस. भार्गव : मारवाड़ एण्ड दी मुगल एम्परर्स

सूबेदार मुअज्जम की सहायता करने का आदेश दिया गया जिसने 1663 में कौंडाना दुर्ग का घेरा डाला किन्तु असफल होने पर 1664 में घेरा उठा लिया गया। जसवन्त सिंह को दिल्ली बुला लिया गया। 1667 से 1671 ई तक जसवन्तसिंह पुनः दक्षिण में मुअज्जम की सहायतार्थ नियुक्त किया गया। इस अवधि में जसवन्तसिंह शिवाजी से सन्धि कराने में सफल रहा।

1671–72 में जसवन्तसिंह ने गुजरात के सूबेदार के रूप में वहाँ की शासन व्यवस्था ठीक की। 1673 में शुजातखाँ की सहायतार्थ जसवन्तसिंह को काबुल भेजा गया किन्तु सफलता न मिलने पर उसे जमरूद भेजा गया जहाँ उसकी मृत्यु 28 नवम्बर 1678 ई में हो गई।

जसवन्तसिंह का मूल्यांकन

जसवन्तसिंह का मूल्यांकन करते हुए डा गोपीनाथ शर्मा का मत है कि जसवन्तसिंह के राजनीतिक जीवन में कुछ विरोधाभास दिखाई देते हैं जिनमें शुजा व दारा के साथ किए गए समझौते तथा शिवाजी के साथ गठबन्धन बताये जाते हैं। वास्तव में उस समय की सैनिक और कूटनीतिक सेवाओं में रहने के कारण उसके व्यवहार में ऐसा आभास होता है। वस्तुतः स्थिति यह है कि महाराजा सीधे व्यक्ति थे और यथोचित कार्यों के पक्ष में रहते हुए इस प्रकार आचरण करता था कि उसका सही मूल्यांकन होना कठिन था।[1] प रेऊ के अनुसार महाराज जसवन्तसिंह बड़े वीर, मनस्वी प्रतापी, दूरदर्शी नीति निपुण विद्वान, कवि दानी व गुण ग्राहक थे। औरंगजेब की परवाह न कर समय समय पर उसका विरोध किया और एक बार तो स्वयं जसवन्तसिंह ने उसकी सेना पर आक्रमण कर उसका खजाना लूट लिया था। फिर भी बादशाह खुलकर उसका विरोध न कर सका। यद्यपि मन ही मन वह इनसे जलता था तथापि इन्हें अपने देश से दूर रखने के सिवाय कुछ नहीं कर सका।[2] मआसिर उल उमरा के शब्दों में अपनी सम्पत्ति और अनुयायियों की संख्या के कारण वह भारत के राजाओं में शिरोमणि था।[3]

जसवन्तसिंह हिन्दू धर्म का रक्षक था। प रामकरण आसोपा के अनुसार "जसवन्तसिंह के भय से औरंगजेब ने जजिया नहीं लगाया और जब औरंगजेब ने मन्दिरों को ध्वस करने की नीति अपनाई तो उसने काबुल में मस्जिदें तोड़ने की आज्ञा जारी कर दी।[4] जसवन्तसिंह स्वयं विद्वान व विद्वानों का आश्रयदाता था। उसने स्वयं दो नाटक लिखे—प्रबोध चन्द्रोदय और सिद्धान्त सार। उसके समय का सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ भाषा भूषण था। सूरत मिश्र नरहरिदास, नवीन कवि आदि विद्वान उसके आश्रय में रहते थे। 'मुहणोत नैणसी री ख्यात' ऐतिहासिक महत्त्व का ग्रंथ है।

---

1 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास, पृ 447
2 प विश्वेश्वरनाथ रेऊ मारवाड़ का इतिहास, भाग–2
3 मआसिर-उल उमरा व मआसिरेआलमगीरी प 32
4 प रामकरण आसोपा मारवाड़ का मूल इतिहास

6 साम्राज्यिक हस्तक्षेप एव राजपूत स्वाधीनता का सग्राम—दुर्गादास की भूमिका

(Imperial Interference and War of Rajput Independence—Role of Durga Das)

राजस्थान म साम्राज्यिक हस्तक्षेप का ज्वलत उदाहरण जोधपुर के महाराजा जसवतसिह का मृत्यु के बाद औरगजेब द्वारा जसवतसिह के नवजात शिशु अजीतसिह को मार डालने का प्रयत्न करना व जोधपुर का खालसा करना था। इस हस्तक्षेप के कारण अजातसिह की रक्षा एव जोधपुर को पुन हस्तगत करने हेतु राजपूत स्वाधीनता का एक लम्बा सग्राम चला जिसका नतृत्व वीरवर दुर्गादास ने किया था। पूव अध्याय म मुगलो से सहयोग करते हुए जसवतसिह की जमरूद म 28 नवम्बर 1678 ई म हुई मृत्यु का उल्लेख किया जा चुका है। अत राजपूतो के इस स्वतन्त्रता सग्राम की पृष्ठभूमि समझना वाछनीय है।

डा गोपीनाथ शर्मा के अनुसार जसवतसिह की जमरूद म मृत्यु होना मारवाड के लिए आपत्ति का सूत्रपात था। जसवतसिह का कोई पुत्र तब तक नहीं पदा हुआ था। अमरसिह का पोता इन्द्रसिह शाही दरबार का सामन्त था। औरगजेब की दृष्टि म वह मारवाड का उपयुक्त शासक हो सकता था क्योकि दो पीढ़ियो से उसके वशज मुगल अधीनता म रह चुके थे। उनसे मुगल स्वार्थों की रक्षा उसके द्वारा मारवाड मे अच्छी हो सकती थी। औरगजेब टीके के दस्तूर को अपना विशेष अधिकार मानकर यह ताने बाने बुनने लगा कि इन्द्रसिह को मारवाड का अधिकारी बना दिया जाए और जोधपुर पर तब तक शाही अधिकारियो को प्रबन्ध के लिए भेज दिया जाए।[1] वी एस दिवाकर का भी कथन है कि "जसवतसिह

1 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास प 449

की मृत्यु के साथ मारवाड़ की स्वतन्त्रता को विपदा के काले बादलों ने घेर लिया। उसकी मृत्यु के साथ जोधपुर राज्य की स्वतन्त्रता का संग्राम शुरू हुआ जो औरंगजेब की मृत्यु के बाद तक चलता रहा है।[1]

इन परिस्थितियों में औरंगजेब की कुटिल कूटनीति के कारण राजपूतों का जो स्वाधीनता संघर्ष चला उसका नेतृत्व दुर्गादास ने किया था। अतः दुर्गादास के विषय में संक्षेप में एवं उसकी भूमिका के परिप्रेक्ष्य में इस संग्राम का विवेचन किया जाना समीचीन होगा।

राजपूत स्वाधीनता संग्राम में दुर्गादास की भूमिका

(The Role of Durga Das in the War of Rajput Independence)

प्रारम्भिक परिचय

दुर्गादास का जन्म 1638 में हुआ था। उसका पिता आसकरण दुनेरा का जागीरदार व महाराजा जसवन्तसिंह का मन्त्री था। आसकरण अपनी पत्नी से अप्रसन्न था और उसे अपने पुत्र दुर्गादास के साथ छोड़ दिया था जो लुणावे गाँव में रहने लगे थे और कृषि कार्य करते थे। डा. गोपीनाथ शर्मा का कथन है कि 'इस अर्थ में शिवाजी और शेरखाँ की भाँति दुर्गादास का प्रारम्भिक जीवन आरम्भ हुआ था। शिवाजी की माँ की भाँति दुर्गादास की माँ ने भी उसमें मारवाड़ तथा उसके राजवंश के प्रति भक्ति की भावना भर दी थी।'[2]

एक दिन जब वह खेत की रखवाली कर रहा था तो एक सरकारी राइके ने खड़ी फसल में अपने ऊँट चराकर उसे नष्ट कर दिया। जब दुर्गादास ने उसे रोका तो झगड़ा करने लगा और जोधपुर के महाराजा तक के लिए अपमानजनक शब्द कहे कि "जसवन्तसिंह का किला तो धाला डूंगा है जिस पर छप्पर भी नहीं है।" अपने राजा का अपमान सुन कर दुर्गादास ने उसे मार डाला। जब राइके की इस हत्या की सूचना महाराजा को मिली तो महाराजा ने आसकरण से उसके बारे में पूछा किन्तु आसकरण ने दुर्गादास को कुपुत्र मानकर उसे पुत्र मानने से इन्कार कर दिया। डॉ. ओझा के अनुसार जब महाराजा जसवन्तसिंह ने दुर्गादास को अपने समक्ष बुलाया तो उसने अपना अपराध स्वीकार करते हुए निडर होकर कहा कि अपने राजा का अपमान सहन न करने के कारण उसने राइके की हत्या की थी। जसवन्तसिंह उससे बड़ा प्रसन्न हुआ और उसे अपनी सेवा में रखते हुए कहा कि दुर्गादास भविष्य में मारवाड़ राज्य का उद्धारक होगा।[3] डॉ. शर्मा का यह मत है कि "वास्तव में महाराजा ने जो दुर्गादास के होनहार होने के लक्षण देखे थे वे सही निकले।[4]

1 डा. एम. दिवाकर, राजस्थान का इतिहास, p 251
2–4 पूर्वोक्त पृ 466
3 डा. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, p 482–83

दुर्गादास के प्रारम्भिक जीवन में घटित इस घटना तथा महाराजा जसवंतसिंह की भविष्यवाणी सही निकली। यह मारवाड़ के लिए उसके द्वारा किए गए त्याग वीरतापूर्ण कार्यों व कूटनीति से प्रमाणित होता है जिसका विवरण आगे दिया जा रहा है।

जोधपुर राज्य को खालसा करना

जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है औरंगजेब जोधपुर राज्य को जमरूद में जसवंतसिंह की मृत्यु के बाद खालसा कर उसे इन्द्रसिंह (जो इस समय दक्षिण में था) को सौंपना चाहता था। डा. यदुनाथ सरकार ने इसके कारण बताते हुए कहा है कि मारवाड़ को अपने अधिकार में रखने के लिए सम्राट के दो बड़े स्वार्थ भी छिपे हुए थे। एक तो यह था कि गुजरात, अहमदाबाद, कैम्बे, अम्बसागर आदि व्यापारिक केन्द्रों से सम्पर्क बनाए रखने के लिए मारवाड़ से सीधा मार्ग दिल्ली और आगरा जाते थे। मेवाड़ वाले मार्ग में कई बाधाएं थीं। यदि मारवाड़ मुगल साम्राज्य के प्रभाव क्षेत्र में आ जाता है तो शाही लश्कर तथा व्यापार के आदान प्रदान की बड़ी सुविधा हो सकती थी। दूसरा स्वार्थ यह भी था कि मारवाड़ का शासक जसवंतसिंह हिन्दू अनीतियों का रक्षक माना जाता था। उसके सुधार अधिकारी में भी इसी प्रकार की प्रेरणा मिल सकती थी। अपनी हिन्दू विरोधी नीति के परिवर्धन में मारवाड़ में एक उत्तराधिकारी की आवश्यकता थी जो सम्राट की नीति का समर्थन करे। इसके अतिरिक्त औरंगजेब जसवंतसिंह द्वारा की गई हरकतों का बदला उसके राज्य को नष्ट कर या अधीन स्थिति में लाकर लेना चाहता था। महाराजा की मृत्यु इसके लिए उपयुक्त अवसर था।[1]

उपरोक्त कारणों से औरंगजेब ने जोधपुर राज्य को खालसा कर लिया और वहाँ फौजदार के पद पर ताहिरखाँ, किलेदार के पद पर खिदमत गुजरखाँ, अमीन के पद पर शेर अनवर व कोतवाल के पद पर अब्दुर्रहीम को नियुक्त कर दिया। शाहजादे अकबर, शाइस्ताखाँ (आगरा), मुहम्मद अमीनखाँ (गुजरात) व असदखाँ (उज्जैन) को भी जोधपुर भेज कर दक्षिण में नियुक्त इन्द्रसिंह को राज्य लेने हेतु आमंत्रित किया।[2] यह व्यवस्था औरंगजेब ने तत्काल कर दी। सर यदुनाथ सरकार का कथन है कि जब यह प्रबंध हो रहा था राठौड़ दल दोनों गर्भवती रानियों को साथ लेकर जमरूद से लाहौर पहुंचा जहाँ उनसे कुछ समय के ही अन्तर में 19 फरवरी 1679 को दो पुत्र अजीतसिंह व दलथम्भन उत्पन्न हुए। इसकी सूचना औरंगजेब को फरवरी माह के अन्त तक मिली।[3] औरंगजेब को यह सुनकर आघात पहुंचा किन्तु जोधपुर व उसके उत्तराधिकारी अजीतसिंह (नवजात शिशु) को नष्ट करने की कुटिल नीति और भी प्रबल हो उठी। उसने अजीतसिंह को जोधपुर भिजवाने का कोई आदेश न देकर जोधपुर के खजाने की तलाश कराई व नगर के

1 3 डा. यदुनाथ सरकार : औरंगजेब भाग-3, p 323-24 2)
2 मआसिरे आलमगीरी पृ 171-73

भवनों दुर्ग व मंदिर मूर्तियों को नष्ट भ्रष्ट किया तथा 26 मई 1679 को इन्द्रसिंह से 36 लाख रुपये लेकर जोधपुर राज्य उसे दे दिया किन्तु वहां की सरकारी व्यवस्था पूर्ववत रही।

डा. गोपीनाथ शर्मा ने जोधपुर को नष्ट करने की नीति की आलोचना करते हुए कहा है कि "इस सूचना के बाद तो औरंगजेब की यदि नीयत साफ होती तो उसे अजीतसिंह को जोधपुर शीघ्रातिशीघ्र भिजवा देना चाहिए था। परन्तु उसने मारवाड़ को अधीन करने की नीति में कोई शिथिलता नहीं आने दी। राज्य को निःसहाय पाकर और मुगल अधिकार का विरोध न देखकर सम्राट ने चारों ओर खजाना की तलाश करवाना आरम्भ किया। खिदमतगुजारखां ने सिवाना के खजाने की तलाशी ली जहाँ फटे चिथड़ों के अतिरिक्त कुछ भी न मिला। अन्य स्थानों में कोट, बुर्ज, दीवारों और आँगनों में तोड़फोड़ कर खजाने की तलाशी ली गई। खालसे के दीवान ने सम्भाल की कर दें और राजस्व की आय के आँकड़े बनाना शुरू किया। खानजहाँ बहादुर को अफसरों के दल के साथ राज्य पर अधिकार करने तथा मन्दिरों को तोड़ने आदि के लिए पहले ही आदेश दिया जा चुका था। उसने जोधपुर पर अधिकार स्थापित करने में सफलता प्राप्त की और वह गाड़ियों में मूर्तियाँ लदवाकर दिल्ली लाया जिन्हें दिल्ली के किले के दालान तथा जामा मस्जिद के सामने परों तले कुचलने के लिए रखवा दी गई।"[1] इस विवरण से स्पष्ट होता है कि औरंगजेब ने जोधपुर को नस्तनाबूद करने की जो क्रूर व धर्मान्ध नीति अपनाई वह राजपूतों के आक्रोश व प्रतिशोध को उद्दीप्त करने व मुगल साम्राज्य के पतन का कारण बनी।

अजीतसिंह को बचाने हेतु दुर्गादास द्वारा गुप्त मन्त्रणा व युद्ध

औरंगजेब की क्रूर व आक्रामक नीति का राजपूतों ने कोई विरोध न किया क्योंकि दुर्गादास की कूटनीति के कारण जमरूद में आने वाले राठौड़ सरदारों ने जोधपुर इस आशय का संदेश भिजवा दिया था। अजीतसिंह के प्राणों की रक्षार्थ अभी विद्रोह करना उचित नहीं था। दुर्गादास को यह आशा थी कि रानियों व अजीतसिंह के जोधपुर आते ही मुगल आधिपत्य हट जाएगा। किन्तु इस आशा को क्रियान्वित होने के लिए राजपूतों को अपनी स्वाधीनता हेतु एक लम्बा संघर्ष करना था जिसका नेतृत्व दुर्गादास ने किया।

औरंगजेब ने लाहौर से राठौड़ सरदारों, रानियों व अजीतसिंह को दिल्ली इस आश्वासन के साथ बुलवा लिया कि राज परिवार को मनसब दिया जाएगा। राठौड़ सरदारों ने 26 फरवरी, 1679 को औरंगजेब से अजीतसिंह को जसवंतसिंह का उत्तराधिकारी घोषित करने हेतु प्रार्थना की। जून के अन्त तक राठौड़ राज परिवार दिल्ली पहुंचा किन्तु बादशाह ने कोई निर्णय न लिया। अजीतसिंह को जोधपुर भेजने के लिए बादशाह के आदेश हेतु भाटी रघुनाथ, चम्पावत केसरी सिंह,

1 पूर्वोद्धृत पृ. 451

जोधा रणछोड़दास गोमददासोत (ग्गमा), राठौड़ सूरजमल नाहर खानोत आदि राठौड़ सरदारों ने दीवान असदखाँ व बख्शी मरबुल दखाँ के द्वारा प्रयास किया किन्तु औरंगजेब अजीतसिंह के बड़े होने पर उसे राज्य व मसब देने का वायदा कर बात टालता रहा।[1] दिलखुश' का लेखक कहता है कि 'औरंगजेब उसे जोधपुर देने के लिए तयार हो गया था यदि अजीतसिंह इस्लाम धम स्वीकार कर ले।'[2] अनेक इतिहासकार इस कथन को सत्य मानते हैं क्योंकि यह नीति औरंगजेब की धर्मान्धता के कारण उचित थी। औरंगजेब ने इस्लाम धम स्वीकार करने पर ही चौगीगढ़ देवगढ़ और माऊ की जमींदारियाँ विरोधी हकदारों को दी थी। डा शर्मा का भी यही मत है अजीत के प्रसंग में यह धारणा सही भी मालूम होता है जब हम जानते हैं कि उसने जाली अजीतसिंह का नाम मुहम्मदीराज रखा था और उसके मरने पर उसे मुस्लिम विधि से दफनाया था। आगे भी उसने शाहू भौंसल को इस्लाम स्वीकार करने को दबाया था। अतएव अजीत के लिए औरंगजेब ने इसी प्रकार की धारणा बना रखी हो या ऐसा विचार व्यक्त किया हो तो कोई आश्चर्य नहीं।[3]

राठौड़ सरदार इस अपमानजनक शर्त को मानने हेतु बिल्कुल सहमत न थे। अतः औरंगजेब के विवश करने पर राठौड़ दल जोधपुर की हवेली छोड़कर किशनगढ़ की हवेली में रहने लगे। औरंगजेब ने केसरीसिंह पचोली को बन्दी बना कर जोधपुर का हिसाब समझाने को कहा किन्तु उसने विष खाकर आत्महत्या की और अपने आत्मसम्मान की रक्षा की। दुर्गादास ने इस समय कूटनीति से काम लिया और अजीतसिंह की रक्षा हेतु शान्तिपूर्ण किन्तु गुप्त षडयन्त्र करना श्रेयस्कर समझा। गुप्त मन्त्रणा द्वारा सरदारों ने यह तय किया कि कुछ सरदार जैसे राठौड़ सूरजमल राठौड़ संग्रामसिंह (आइवा) चाँवावत उदयसिंह जतावत प्रतापसिंह (बगड़ी) राठौड़ राजसिंह आदि एक एक कर जोधपुर लौट जाए जिससे औरंगजेब उन पर सन्देह न कर सके व यह समझे कि सरदार अपनी जागीरों को लौट रहे हैं तथा दूसरा उद्देश्य यह था कि ये सरदार जोधपुर पहुँच कर आवश्यकतानुसार मुगलों का प्रतिरोध कर सकें। यह भी गुप्त मन्त्रणा में निर्णय हुआ कि कुछ सरदार दिल्ली के निकट रह कर अजीतसिंह को निकाल ले जाने वाले दल को जोधपुर जाने का समय देकर पीछा करने वाली मुगल सेना के साथ युद्ध कर मर मिटेंगे। प रेऊ का ऐतिहासिक स्रोतों के आधार पर यह मत है कि इस सारी योजना के पीछे दुर्गादास का मस्तिष्क था जिसने औरंगजेब की धूर्तता का उचित रूपेण प्रत्युत्तर देने की तरकीब सोच निकाली थी।[4]

उपरोक्त गुप्त योजनानुसार जब कुछ राठौड़ सरदार किशनगढ़ की हवेली से चले गए तो औरंगजेब ने उनकी शक्ति निर्बल देख 15 जुलाई, 1679 को फौलादखाँ

1 मआसिरे आलमगीरी, p 173-77
2 दिलखुश पत्र 16
3 पूर्वोक्त p 452
4 प विश्वेश्वरनाथ रेऊ मारवाड़ का इतिहास, भाग-1 पृ 253-55

कोतवाल को उन्हें नूरगढ़ लाने का आदेश दिया। वी एम दिवाकर के शब्दों में "जिस समय फौलादखाँ अजीतसिंह और रानियों को नूरगढ़ ले जा रहा था तब रघुनाथ भाटी सौ सरदारों के साथ फौलादखाँ पर टूट पड़ा। 60 साथी भी मारे गए और वह भी काम आया, राजपूत सरदार अजीतसिंह को पहले ही लेकर निकल गए थे। दुर्गादास ने सफलतापूर्वक यह काम किया और संध्या पड़ने तक दिल्ली की सीमाओं से बाहर निकल गया। 23 जुलाई को अजीतसिंह व दुर्गादास मारवाड़ जा पहुँचे।'[1] डा रघुवीरसिंह के अनुसार 'स्वामिभक्त राठौड़ों ने इतिहास प्रसिद्ध वीरवर राठौड़ दुर्गादास के नेतृत्व में अपने शिशु स्वामी को औरंगजेब के पंजे से बचाने का दृढ़ निश्चय किया। उनको घेरने वाली शाही सेना को तलवारों के बल से चीरकर औरंगजेब के सारे इरादों को विफल बनाते हुए वे शिशु अजीत व उसकी माता को साथ लिए हुए दिल्ली से मारवाड़ की तरफ चल पड़े। यों 15 जुलाई, 1679 को दिल्ली में ही राजपूतों के विद्रोह का प्रारम्भ हुआ जो अगले 30 वर्षों तक चलता रहा।'[2]

अजीतसिंह को दिल्ली से मारवाड़ पहुँचाने के सन्दर्भ में विभिन्न स्रोतों के आधार पर भिन्न भिन्न मत प्रचलित हैं। मुन्तखब-उल लुबाब के अनुसार वास्तविक रानियों व राजकुमारों को रात्रि के समय निकाल कर उनके स्थान पर अन्य दो बच्चे व दासियों को छोड़ दिया गया था। 'जोधपुर राज्य की ख्यात' में खीची मुकन्ददास व कलावत द्वारा राजकुमारों को गुप्त रीति से दिल्ली से बाहर ले जाया गया किन्तु मार्ग में दलथंभन बालक की मृत्यु हो गई थी। वंश भास्कर' से ज्ञात होता है कि दुर्गादास अजीतसिंह को निकाल ले जाने वालों में से एक था और भाटी गोविन्ददास कालबेलियों के रूप में दोनों राजकुमारों को पिटारियों में रख कर निकाल ले गया था।[3] कर्नल टाड ने उन्हें मिठाई के टोकरों में निकालना बतलाया है।[4] पं रेऊ ने लिखा है कि बलूंदा के सरदार मोहकमसिंह की पत्नी बाघेली के साथ सकुशल राजकुमारों को राठौड़ों ने निकाला।[5] यदुनाथ सरकार का यह मत ही उचित लगता है कि "जब शाही दल और राजपूतों में झगड़ा चल रहा था तब दुर्गादास युक्ति से अजीतसिंह को वहाँ से निकालकर चल दिया।'[6]

रानियों के विषय में भी भिन्न-भिन्न मत प्रचलित हैं। इन मतों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि मुन्तखब उल लुबाब के अनुसार रानियाँ मर्दों की पोशाक में निकल गई, जोधपुर की ख्यात के अनुसार दुर्गादास ने जादमजी व नरूकीजी रानियों को चन्द्रभाण के हाथ से लोहा कराने को कह कर मुगलों से युद्ध किया, मुंशी देवीप्रसाद ने कहा है कि जब हारने की आशंका हुई तो राठौड़ों ने पुरुष वेश में रानियों

1 वी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास p 254
2 डा रघुवीर सिंह पूर्व आधुनिक राजस्थान
3 सूर्यमल मिश्रण वंश भास्कर, भाग-3, पृ 2859
4 टॉड राजस्थान का इतिहास भाग-1, पृ 993
5 रेऊ मारवाड़ राज्य का इतिहास भाग-1 p 254
6 सरकार औरंगजेब, भाग-3 पृ 333-34

का वध कर दिया और राजकुमार को दूध बचने वाले के घर छोड़कर भाग गए। टाड युद्ध आरम्भ होने के पूर्व ही रानियों के वध की बात कहते हैं। अजितोदय व राजरूपक के अनुसार रानियों ने अपने सिर च द्रभाग कटवा कर पति का अनुगमन किया। सरकार ने अजीतसिंह की माँ मेवाड वश की होना व दिल्ली से मेवाड पहुच कर राणा से सहायता मांगना लिखा है। इन मतों का विश्लेषण करते हुए डा गोपीनाथ शर्मा ने निष्कर्ष निकाला है कि 'कुमार वहाँ से निकाल लिया गया था और कई राठौड सरदार उसके मारवाड पहुँचते पहुँचते अपना जीवन की आहुति दे चुके थे। रानियों का भी अन्त इसी रूप से हुआ होना स्वाभाविक दीख पड़ता है।[1]

अजीतसिंह की रक्षा हेतु मुगल राजपूत संघर्ष

मेवाड से सन्धि—अजीतसिंह को मारवाड ले जाने के दुर्गादास के दु स्साहस औरंगजेब सहन न कर सका अत उसने मारवाड पर भीषण आक्रमण किया। उसने बड़े शहजादे अकबर को विशाल सेना के साथ राठौडो के विद्रोह का दमन करने हेतु भेजा। राठौडों द्वारा प्रतिरोध का विवरण देते हुए वी एस दिवाकर का यह कथन उल्लेखनीय है कि राठौड हर स्थान पर मुगलों का विरोध कर रहे थे। व छापामार युद्ध कर रहे थे। रसद का लूटना मुगल यातायात को हानि पहुचाना राठौडों का दैनिक कार्यक्रम बन गया था। व जालौर सिवाना गोडवाना, नागौर डीडवाना और साँभर आदि स्थानों को लूटते व जगलो म छिप जाते। ऐसा लगता था कि सारे मारवाड में राठौडों की छापामार युद्ध प्रणाली आतंक फैला रही है। अत शाहजादा अकबर चित्तौड से 16 जुलाई 1680 म साजत आया और राजपूतों का दमन करने लगा। दुर्गादास ने राणा राजसिंह से मित्रता के प्रयत्न किए कि तु राणा की मृत्यु हो गई। उसने आमेर के राजा जयसिंह से भी सधि वार्ता की। 14 जून 1681 को दुर्गादास ने मेवाड से सधि की और मुगलों के विरुद्ध मारवाड मेवाड सघ का निर्माण किया। दोनों राज्यों की सम्मिलित सेना ने शाहजादा अकबर को परेशान कर उसे मित्रता करने पर विवश किया। 1 जनवरी 1681 को अकबर को नाडोल में सम्राट घोषित किया गया और वह औरंगजेब के विरुद्ध राजपूत सेना तथा अपनी सेना लेकर अजमेर की ओर चल दिया।[3]

औरंगजेब के षडयन्त्र से अकबर की विफलता—अकबर विद्रोही होकर अपने सेनापति तहवरखाँ के साथ औरंगजेब का सामना करने हेतु करकी स्थान पर पहुचा। औरंगजेब की सेना का पड़ाव देवराय स्थान पर था। 15 जनवरी को औरंगजेब ने धोखे से तहवरखाँ को बुलाकर मार डाला तथा अकबर के नाम एक पत्र उसकी प्रशंसा करते हुए लिखा कि उसने राजपूतों के नेता दुर्गादास को फाँस कर उसके पास पहुँचा देने का कार्य ठीक किया और उस बीच म रहकर पिता व पुत्र

1 पूर्वोक्त p 455
2 p 255
3 *Dr G N Sharma* Mewar & the Mughal Emperors p 175 79

की सेना द्वारा उस पराजित करने की बात कही। यह पत्र औरगजेब ने दुर्गादास के पास पहुचा दिया जिसम दुर्गादास घबरा कर ससन्य पीछे हट गया जिसके कारण अकबर औरगजेब के आक्रमण का सामना न कर पाने पर जगलो मे भाग गया। दुर्गादास को जब औरगजेब की इस चाल का पता चला तो उसने गहरा पश्चाताप किया व अकबर को मराठा की सुरक्षा म रहने के लिए उस महाराष्ट्र ल गया।

पुन मुगल मारवाड सघष—दुर्गादास के महाराष्ट्र म जाने म औरगजेब चिंतित हुआ और उसने सारी शक्ति मराठा के विरुद्ध लगा दी। अत मारवाड पर मुगल दबाव कम होने पर राठौडा ने जगह जगह मुगल थाना को लूटा। बगडी, साजत डीडवाना मडता जोधपुर आदि के थाना को लूटकर वे पहाडा म छिप जाते थ। 1681 म अजीतसिह को मवाड से हटाकर सिराही के कालिन्दी गाँव म लाया गया। राठौड सरदारो के परामश से 23 माच 1687 को पालडी म महाराज अजीतसिह का जोधपुर का महाराज घोषित कर दिया गया। इस प्रकार गोपनीयता की स्थिति स प्रत्यक्ष प्रकट रूप म आने पर अजीतसिह मारवाड के गाँवा म घूमा और मारवाड सगठन को एक नइ दिशा प्रदान की। 21 अक्टूबर 1687 को भीरवनाई स्थान पर दुर्गादास न भी दक्षिण से आकर महाराजा को नजर पश की।

दुर्गादास के मारवाड लौटने पर मुगल मारवाड सघष पुन उग्र रूप स भडक उठा किंतु दुर्गादास व अजीतसिह म मनोमालिन्य हो गया। बी एम दिवाकर का कथन है कि 'युद्ध की नीति के मामला म बडा मतभेद हो गया। अजीतसिह खुले मैदान मे युद्ध करना चाहता था जबकि दुर्गादास छापामार युद्ध म विश्वास करता था।[1] दुर्गादास ने कूटनीति स काम लिया और छोटे शाहजादे बुलन्द अख्तर और उसकी पुत्री सफियतुन्निसा बेगम को बन्दी बना कर घोषणा की कि यदि मारवाड पर मुगल आक्रमण कम न हुआ तो उनकी जिन्दगी का खतरा हो जाएगा। इस नीति स औरगजेब दुर्गादास से सधि वार्ता के लिए विवश हुआ। शुजातखाँ व ईश्वरदास की मध्यस्थता स सधि सम्पन्न हुई।

औरगजेब से सधि—गौरीशकर हीरानन्द ओझा के अनुसार इस सधि मे मुगल मारवाड सघष समाप्त हो गया। डा गोपीनाथ शर्मा के शब्दो मे दुर्गादास को इसके अनन्तर बादशाह स मिलने का अवसर मिला, जबकि उसन उसे तीन हजार का मनसब, एक रत्न जटित कटार, एक स्वर्ण पदक, एक मोतिया की माला और एक लाख रुपया नकद देकर सम्मानित किया। मारवाड स दूर रखने के लिए, शाही सेवा म उपस्थित हो जाने के बाद सम्राट ने दुर्गादास को पाटन का फौजदार नियुक्त कर उधर भेज दिया। अजीतसिह को भी मडता की जागीर देकर कुछ शान्त कर दिया गया। परन्तु अजीत एव दुर्गादास ने फिर विद्रोह का झण्डा उठाया परन्तु किसी प्रकार उसे शान्त कर दिया गया। अन्त म जब औरगजेब की मृत्यु 1707 ई मे हो गई तो अजीतसिह न जफरकुली को निकाल कर जोधपुर पर अपना अधिकार

1 पूर्वोक्त प 256-57

स्थापित कर लिया। इसी तरह मडता, माजत पाली आदि स्थान भी उसके हाथ आ गए। एक लम्बे सघर्ष के बाद राठौडो का अधिकार मारवाड म पुन जम गया और वहाँ मुगलो का प्रभाव समाप्त हुआ।[1] यह वृतान्त मीरात ए अहमदी व जोधपुर की ख्यात स पुष्ट होता है।

अजीतसिंह व परवर्ती मुगल सम्राट—औरगजेब की मृत्यु के बाद शाहजादा मुअज्जम शाह आलम के नाम से गद्दी पर बठा तो अजीत द्वारा उसकी उपेक्षा करने पर जोधपुर पर मुगल आक्रमण हुआ किन्तु आमेर के शासक जयसिंह की मध्यस्थता स समझौता हो गया। शाह आलम न अमरसिंह व जयसिंह द्वारा बादशाह बहादुरशाह की उपेक्षा करने पर जोधपुर व आमेर को खालसा कर लिया। इस बार मेवाड के महाराणा अमरसिंह द्वितीय के साथ जयसिंह व अजीतसिंह एव दुर्गादास के म य 1708 ई म सन्धि हुई व मेवाड राजकुमारी का विवाह जयसिंह स हुआ।

डा शिवचरण मेनारिया क अनुसार 1708 ई की इस त्रिशासकीय सधि के परिणामस्वरूप राजस्थान के तीन राज्यो—उदयपुर आमेर तथा जोधपुर म पारस्परिक मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित हुए। कूटनीतिक स्तर पर असफलता पाने पर सवाई जयसिंह तथा अजीतसिंह ने शक्ति बल स अपने अपने राज्य प्राप्त करने का निश्चय किया। त्रिशासकीय सधि के अनुसार वचनबद्ध महाराणा ने साँवल दान तथा चतुभुज महासहानी के नेतृत्व म मेवाड की सेनाए उनकी सहायता य उनके साथ रवाना की। जुलाई 1708 मे तीनो राज्यो की सम्मिलित सेना ने जोधपुर पर आक्रमण करके वहाँ अपना अधिकार स्थापित कर लिया।[2] इस प्रकार अजीतसिंह का जोधपुर पर पुन अधिकार हुआ। अजीतसिंह न जयसिंह को भी आमेर पर अधिकार करने म सैनिक सहायता दी।

जब फर्रुखसियर बादशाह बना तो उसने अजीतसिंह की मुगल विरोधी कार्यवाही के कारण मारवाड पर आक्रमण हेतु सेना भेजी कि तु मुगलो की शर्तों के अनुसार अजीतसिंह ने सधि कर ली और अपनी पुत्री इन्द्र कुवरी का विवाह फर्रुखसियर स 1715 म कर दिया। मुहम्मद शाह के बादशाह बनने पर अजीतसिंह को अहमदाबाद का सूबेदार बनाया गया।

अजीतसिंह की हत्या—23 जून 1724 ई को अजीतसिंह की हत्या कर दी गई। हत्या के आरोप म उसके पुत्र अभयसिंह को दोषी मानने सम्बन्धी विभिन्न मतो की समीक्षा करते हुए डा गोपीनाथ शर्मा ने निष्कर्ष निकाला है कि 'सम्भवत अभयसिंह अजीत के लम्बे शासनकाल स अधिकार के लिए अधीर हो गया हो जिसमे उसने अपने भाई (बख्तसिंह) को नागौर का प्रलोभन देकर उसे मरवा दिया हो।[3] इस प्रकार जन्म स मृत्यु पर्यन्त अनेक कष्ट झेलने क बाद अजीतसिंह के जीवन का दुखद अन्त हुआ।

1 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास प 462
2 डॉ शिवचरण मेनारिया उत्तर मुगलकालीन मेवाड p 84 85
3 पूर्वोद्धत p 464

दुर्गादास का चरित्र एवं व्यक्तित्व

दुर्गादास के प्रारम्भिक जीवन का परिचय पूर्व में दिया जा चुका है तथा राजपूतों के स्वाधीनता युद्ध में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका एवं उसकी उपलब्धियों का विवेचन भी हो चुका है। विशासकीय संधि के अनुसार जब शक्ति बल से अजीत सिंह का अधिकार जोधपुर पर हो गया तथा जयसिंह के राज्य आमेर को पुन अधिकृत करने हेतु जब सांभर के युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद सेना डेरा डाल हुए थी तो अजीतसिंह ने दुर्गादास को अपने डेरे से हटाकर सरदारों के डेरे में जाने को कहा तो दुर्गादास अपमानित समझ सकुटुम्ब मारवाड छोड मेवाड के महाराणा अमरसिंह द्वितीय की सेवा में चला गया था जहाँ उसे बिजपुर की जागीर दी गई और रामपुरे का हाकिम नियुक्त किया गया। रामपुरे में ही 22 नवम्बर 1718 ई को उसकी मृत्यु हो गई। क्षिप्रा नदी के तट पर उसका दाह संस्कार किया गया।

दुर्गादास की उपलब्धियों के आधार पर इतिहासकारों ने उसका भिन्न भिन्न दृष्टियों से मूल्यांकन किया है। दुर्गादास का दुखद अन्त देखकर डा बी एस भार्गव का मत है कि 'दुर्गादास राठौड जिसने अजीतसिंह को नवजीवन देकर मारवाड में राठौडों की सत्ता को बनाए रखा वह देश भक्त उज्जैन के पास 1718 ई में एक देश से निकाले गए व्यक्ति की हैसियत से मरा।[1] सर यदुनाथ सरकार के अनुसार उसे न मुगलों का धन विचलित कर सका न ही मुगल शक्ति उसके वीर हृदय को पीछे हटा सकी। वह एक वीर था जिसमें राजपूती साहस व मुगलमन्त्री सी कूटनीति थी। इसी के गुणगान में इसीलिए भाट गाते हैं कि ह माता पूत ऐसो जण जसा दुर्गादास।'[2] डा ओझा ने लिखा है कि अपूर्व वीरता स्वामिभक्ति युद्ध कौशल राजनैतिक योग्यता और स्वार्थ त्याग ने वीर दुर्गादास का नाम राठौड वंश के इतिहास में अमर कर दिया।'[3] डा रघुवीरसिंह ने दुर्गादास के लक्ष्य की ओर इंगित कर कहा है कि 12 मार्च 1707 को प्रथम बार अपनी इस वंश परम्परागत राजधानी (जोधपुर) में अजीतसिंह ने प्रवेश किया और अपने पैतृक किले को गंगा जल व तुलसी से शुद्ध किया। या 28 वर्ष के अनवरत प्रयत्न के बाद दुर्गादास की जीवन साधना सफल हुई।"[4]

डा गोपीनाथ शर्मा ने दुर्गादास की उपलब्धियों का सर्वेक्षण करते हुए उसके चरित्र की विभिन्न विशेषताओं का इस प्रकार उद्घाटन किया है— 'जब मारवाड खालसा कर लिया गया और बालक अजीत को शाही दरबार में रखकर इस्लामी शिक्षा व दीक्षा दिए जाने का जाल रचा गया तो दुर्गादास ने सभी राठौड सरदारों का संगठन कर युक्ति से युवराज को शाही चंगुल से निकाल लिया। इस सारी घटना में उसने वीरता तथा कूटनीति से काम लिया था। इसके अतिरिक्त सीसोदिया

1 *Dr V S Bhargava* Marwar & the Mughal Emperors
2 सरकार औरंगजेब
3 ओझा जोधपुर राज्य का इतिहास भाग–2, p 482
4 डॉ रघुवीर सिंह पूर्व आधुनिक राजस्थान

राठौड़ संघ के निर्माण का वही प्राण था। दोनों की संयुक्त शक्ति ने मुगलों के दाँत खट्टे कर दिए थे। जब मेवाड़ से संधि हुई तो वह बड़े नाटकीय ढंग से अकबर को निकाल कर मराठा दरबार में ले गया। यह कार्य दुर्गादास की कूटनीति की चाल का एक महत्त्वपूर्ण अंग था। अंत में दुर्गादास और अजीतसिंह के साथ संधि करने के लिए सम्राट को बाध्य होना पड़ा।

शाहजादे अकबर के पुत्र बुलन्द अख्तर और उसकी पुत्री सफियतुन्निसा बेगम को अपने पास रख दुर्गादास ने न केवल शाहजादे की मित्रता निभाई थी वरन् एक धर्म सहिष्णु होने का अच्छा परिचय दिया था। जब अवसर आया तो उसने इन दोनों को सम्मानपूर्वक सम्राट के पास भेज दिया।

वह सम्भवतः युद्ध का दौर उसी प्रगति से बनाए रखता यदि अजीतसिंह उसको मारवाड़ में मिलने वाले सम्मान से ईर्ष्या न करता। "यदि दुर्गादास के सिद्धान्तों पर अजीतसिंह चलता तो सम्भवतः मुगल मारवाड़ संघर्ष की इतिश्री बड़े गौरव के साथ होती।'[1]

बी एल दिवाकर ने दुर्गादास का मूल्यांकन करते हुए कहा है कि यदि दुर्गादास न होता तो मारवाड़ अपनी स्वतन्त्रता खो देता और मुगल राज्य का एक प्रान्त बन जाता। औरंगजेब जैसे शक्तिशाली व हठी राजा का विरोध कर दुर्गादास ने देश प्रेम व स्वामिभक्ति का ही परिचय नहीं दिया वरन् अपने अटूट साहस व बुद्धि का परिचय देकर राजपूतों के इतिहास को गौरवान्वित किया।[2] इतिहासकारों के अतिरिक्त मारवाड़ के अनेक कवियों ने भी दुर्गादास की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। एक जाट कवि राम की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"ढबक ढबक ढोल बाजे दे दे ठोर नगारा की।
आसे घर दुर्गो नहीं होतो सुन्नत होती सारा की॥'

उपरोक्त पंक्तियाँ मुंशी देवी प्रसाद ने अपनी कृति 'होनहार बालक' में उद्धृत की हैं।

1-2 पूर्वोद्धृत पृ 257एवं 467

7 सत्रहवी शताब्दी मे मेवाड

(Mewar in the 17th Century)

सत्रहवी शताब्दी में मेवाड का अध्ययन महाराणा अमरसिह (1597-1620 ई) महाराणा कर्णसिह (1620 1628 ई) महाराणा जगतसिह (1628 1652 ई) महाराणा राजसिह (1652 1680 ई) महाराणा जयसिह (1680 1698 ई) तथा महाराणा अमरसिह द्वितीय (1698 1710 ई) के राज्य-काल मे हुई मेवाड की प्रगति एव मेवाड मुगल सम्बन्धो की दिशा प्रकट करता है। अध्याय–4 के अतगत हम मेवाड के महाराणा प्रताप का अध्ययन कर चुके हैं। प्रताप की मृत्यु के बाद उनका पुत्र अमरसिह मेवाड का शासक बना जिसने अपने पिता प्रताप के समय मे चल रहे मुगलो के विरुद्ध सघर्ष को जारी रखा किन्तु मुगलो से सधि के फलस्वरूप मेवाड के इतिहास मे एक नया मोड आया जो सत्रहवी शताब्दी मे हुए मेवाड के शासको के समय मे सुखद एव दुखद परिणामो के रूप मे दृष्टिगत हुआ। अत इस अवधि के अतगत मेवाड के महाराणाओ का सक्षिप्त परिचय एव महाराणा राजसिह व औरगजेब के मध्य सघर्ष का विस्तृत अध्ययन करना आवश्यक है।

महाराणा अमरसिह (1597–1620 ई)
(Maharana Amar Singh 1597–1620 A D)

मेवाड की सुव्यवस्था—महाराणा अमरसिह अपने पिता महाराणा प्रताप की 16 जनवरी, 1597 ई को हुई मृत्यु के बाद मेवाड का शासक बना। डॉ गोपीनाथ शर्मा के अनुसार—"राणा प्रताप ने जितना सम्भव था शासकीय तथा जनजीवन के सम्बन्ध मे व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न किया तथापि कुछ ऐसे पहलू बचे थे जिनके ऊपर ध्यान देना आवश्यक था। इसी प्रकार उदयपुर के समय मे चलने वाले अकबर के मेवाड को दबाने के प्रयत्न समाप्त नही हुए थे। प्रताप की मृत्यु के बाद जब राणा अमरसिह मेवाड का शासक बना तो वह इन सभी बातो के लिए सजग था। उसे अपने पिता के साथ युद्ध तथा राज्य की गम्भीर

का अच्छा अनुभव था।[1] अत मेवाड मुगल संघर्ष के मध्य मिल अंतराल में महाराणा अमरसिंह ने मेवाड की सुव्यवस्था हेतु जागीरदारों के परस्पर वैमनस्य को कम करने का प्रयास किया राजकीय आय के साधनों को बढाया उजडी हुई बस्तियों को पुन बसाया तथा सैन्य व्यवस्था सुधारने व किलों के निर्माण तथा मरम्मत पर विशेष ध्यान दिया।

मुगल-आक्रमण एवं प्रतिरोध—महाराणा अमरसिंह के समय मुगलों के निम्नांकित सैनिक अभियान मेवाड पर किए गए—

(i) अकबर के आदेश से 1599 ई शाहजादा सलीम ने मेवाड पर आक्रमण किया किंतु अपनी उदासीनता के कारण वह उदयपुर तक जाकर लौट गया। इधर महाराणा ने बागोर गोरी व ऊंटाला के मुगल थानों पर आक्रमण कर उन पर अधिकार कर लिया। युद्ध में अनेक मुगल सैनिक मारे गए।

(ii) 1605 ई में जब जहांगीर मुगल सम्राट बना तो उसने परवेज, आसिफखाँ जफर बेग और सागर को मेवाड अभियान के लिए भेजा। राणा ने देसूरी बदनोर मांडलगढ और मांडल के मोर्चों पर मुगलों का तीव्र प्रतिरोध किया और इस अभियान को विफल बना दिया।

(iii) 1608 ई में उसने महावत खाँ के नेतृत्व में मेवाड के विरुद्ध सेना भेजी जिसने शिवा पहाडों तक पहुँच कर अनेक राजपूतों का वध बनाया किंतु बाघसिंह व भैरवसिंह ने रात्रि के समय किए गए गुरिल्ला छापों में मुगलों को काफी परेशान किया। तंग आकर महावत खाँ सागर को चित्तौड व जगन्नाथ कछवाहा को मांडल छोड कर वापस चला गया।

(iv) 1609 व 1612 ई में अब्दुल्ला व राजा बासू को क्रमश मेवाड के विरुद्ध भेजा गया जिन्होंने राणा को चावण्ड व मेरपुर छोडने पर विवश किया किन्तु मालवा गुजरात अजमेर व गोडवाड तक छापे मार कर राणा के सैनिकों ने मुगलों को तंग किया।

(v) 1613 ई में जहांगीर मेवाड अभियान हेतु स्वयं अजमेर गया व शाहजादा खुर्रम को इस अभियान की कमान सौंपी। खुर्रम ने चारों ओर से सैनिक आक्रमण कर राणा को चावण्ड के पहाडों में घेर लिया व हारे हुए थानों पर पुन अधिकार किया व नये थाने बैठाये। मुगल अभियान में मेवाड की दशा शोचनीय हो गई।

मेवाड-मुगल संधि (1615)—मुगल अभियान के कारण मेवाड की दशा दिन प्रति दिन खराब होती गई। डा गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में—"इस

1 डा गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास, पृ 337

लम्बे युद्ध से मेवाड की स्थिति मुगलों की सैनिक व्यवस्था और कूटनीति से सोचनीय हो चली। इसमें खेत के खेत नष्ट हो गए। खड़ी फसल तो समाप्त हो गई परन्तु अगली फसल बोने की कोई आशा न रही। गांव के गांव उजड़ गए, बस्तियों में आग लगा दी गई और पशु धन नष्ट हो गया। सबसे बड़ी अपमानजनक बात यह थी कि विजेताओं ने स्त्रियों व बच्चों को गुलाम बनाकर बेचना शुरू कर दिया। मन्दिर और सार्वजनिक स्थान ढाह दिए गए। दस्तकार और कृषक बिना काम के हाथ पर हाथ रखकर बैठ गए। इनमें से कई बेघरबार हो गए। सारी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो चली। राज्य की हालत दुष्काल से भी भयकर बन गई। अनुभवी राजपूत योद्धाओं के मारे जाने से सेना में एक भारी कमी का अनुभव होने लगा। सामन्तों के परिवार के परिवार नष्ट हो गए जिनमें किसी में अल्प वयस्क बच्चा या बेवाओं का समुदाय मात्र रूप बचा रहा।'[1] इस विषम परिस्थिति में राणा ने अपने सामन्तों से मन्त्रणा कर सामूहिक निर्णय लिया कि मुगलों को संधि प्रस्ताव भेजा जाये।

फलत हरिदास झाला और शुभकरण द्वारा शाहजादे खुर्रम के पास संधि प्रस्ताव भेजे गए। जिन्हें खुर्रम ने मुल्ला शकुल्लाह शीराजी और सुन्दरदास के साथ अजमेर सम्राट जहांगीर के पास भेजा गया। जहांगीर ने प्रस्तावित शर्तों को अपने पंजे के चिह्न के साथ स्वीकृत कर राणा के पास भिजवा दिया। संधि की ये शर्तें निम्नांकित थी —

(i) राणा स्वयं खुर्रम के समक्ष उपस्थित होगा तथा कुंवर कर्णसिंह को मुगल दरबार में भेजा जाएगा।

(ii) राणा को अन्य अधीन राजाओं की भांति मुगलों की सेवा की श्रेणी में सम्मिलित होना पड़ेगा किन्तु राणा का दरबार में उपस्थित होना आवश्यक नहीं।

(iii) राणा मुगल सम्राट की सेवार्थ 1000 घुड़सवारों के साथ तत्पर रहेगा।

(iv) चित्तौड दुर्ग राणा को वापस दे दिया जाएगा किन्तु राणा उसकी मरम्मत नहीं कर सकेगा।

यह संधि 5 फरवरी 1615 ई को खुर्रम व राणा के मध्य सम्पन्न हुई।

मेवाड-मुगल संधि की समीक्षा—"इस संधि को अपमानसूचक मानने का प्रमाण श्यामलदास ने राणा की संधि के पश्चात् की मनोदशा को मानते हुए कहा है कि— कुंवर कर्णसिंह अजमेर से निकलकर अपने मुल्क मेवाड़ का जितना हो सका आबाद करते हुए उदयपुर पहुंचे और महाराणा को बड़ी ही रंजीदा हालत में पाया। वह अपने महल अमर में एकान्त निवास कर रहे थे। कर्णसिंह

1 पूर्वोद्धृत p 339-40
2 *Dr G N Sharma* Mewar and the Mughal Emperors p 234

के प्रात ही राज्य का कुल काम महाराणा अमरसिंह ने उनके सुपुर्द कर दिया। [1] संधि के पूर्व भी राणा की मनोदशा इस संधि को अपमानजनक समझने में सहायक है। *श्यामलदास के शब्दों में— 'दिन दिन मेवाड़ी राजपूतों का बल कम* होता जाता था। तब सब लोगों ने मिलकर राणा को कहा, अब सुलह किए बगैर राज्य में रहना कठिन है। राणा को यह सलाह अच्छी नहीं लगी। उन्होंने खान *खाना अब्दुल रहीम के पास एक दोहा इस आशय का लिख भेजा—*

गोड कछाहा राठवड गोरवा जोर करत।
कह जो खानाखान ने बनचर हुआ फिरत॥

इसके उत्तर में खानखाना ने लिखा—

धर रहसी रहसी धरम खप जासी खुरसाण।
अमर विशभर ऊपरा राखो निहचो राण॥

इसका अभिप्राय यह रहा कि आराम से रहना अच्छा है और राणा ने सुलह के विचार को मंजूर नहीं किया।' [2]

कुछ इतिहासकारों ने संधि में वर्णित चित्तौड़ के किले की मरम्मत न *कराने व मुगल सम्राट की सहायतार्थ सेना भेजने की शर्तों को अपमानजनक माना* है किन्तु डा गोपीनाथ शर्मा ने संधि का समर्थन करते हुए कहा है कि—"इस संधि में राज्य के आंतरिक शासन में सम्राट द्वारा हस्तक्षेप करना या राणा का मुगल दरबार में हाजिर होना अपेक्षित नहीं था। न उसे मुगलों के लिए डोला भेजने की आवश्यकता थी। यदि समय पर संधि न की गई होती तो मुगल बल से छोटी सी मेवाड की रियासत समाप्त हो जाती। वरन् कहना चाहिए कि इस संधि ने कुछ शांति का अवसर दे मेवाड के वीरों में फिर से युद्ध लड़ने की क्षमता पैदा कर दी। यदि भावुकता को पृथक कर दिया जाए तो यह संधि मेवाड के लिए हितकर सिद्ध हुई। [3]

अत इस संधि ने मेवाड को शांति एवं प्रगति का अवसर देने में महत्त्व पूर्ण योग दिया। 26 जनवरी 1620 ई में अमरसिंह का उदयपुर के निकट *आहड में देहावसान हो गया।*

राणा अमरसिंह के चरित्र एवं व्यक्तित्व का मूल्यांकन—कर्नल टाड के मतानुसार— राणा अमरसिंह प्रताप और अपने कुल का सुयोग्य वंशधर था। वह वीर पुरुषों के समस्त शारीरिक और मानसिक गुणों से सम्पन्न तथा मेवाड के राजाओं में सबसे अधिक ऊंचा और बलिष्ठ था। वह उदारता और पराक्रम आदि सद्गुणों के कारण सरदारों को और न्याय तथा दयालुता के कारण प्रजा को भी प्रिय था। [4] डा ओझा ने भी कहा है कि— 'महाराणा अमरसिंह वीर पिता का

1–2 श्यामलदास वीर विनोद पृ 50–51
3 डॉ गोपीनाथ शर्मा वही p 338
4 टाड राजस्थान का इतिहास प 220

र पुत्र था। वह अपने पिता के समय से ही मुसलमानों से लड़ाइयाँ लड़ता रहा और उनके पीछे भी अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए अनेक लड़ाइयाँ लड़ा। वह र ज्ञान के अतिरिक्त नीतिज्ञ दयालु अपने सद्गुणों से अपने सरदारों की प्रीति म्पादन करने वाला न्यायी सुकवि और विद्वानों का आश्रयदाता था।'[1] वस्तुत राणा अमरसिंह ने अपने सामन्तों के परामर्श को मानकर सन्धि करने में दूरदर्शिता अपने व्यक्तिगत अपमान को भुलाकर राज्य के हित को प्राथमिकता देने में बुद्धिमत्ता का परिचय दिया। उसने अपने सुधारों व मुगलों के प्रतिरोध द्वारा अपनी प्रशासन कुशलता व वीरता को प्रकट किया।

महाराणा कर्णसिंह (1620–1628 ई.)
[Maharana Karn Singh (1620–1628 A D)]

महाराणा कर्णसिंह के राज्याभिषेक के अवसर पर जहाँगीर ने राणा को लम्बी फरमान व खिलअत प्रदान की। उसके समय सन्धि के परिणामस्वरूप मुगलों से सम्बन्ध अच्छे रहे व युद्ध में क्षतिग्रस्त मेवाड़ का पुनर्निर्माण हुआ। भावी सम्राट शाहजहाँ को उसके शाहजादे खुर्रम के रूप में जहाँगीर के विरुद्ध विद्रोह करने पर 1623 ई. में पिछोला झील के महलों में शरण देकर तथा उसे सुरक्षित माण्डू से दक्षिण भेजकर उससे सम्बन्ध और भी प्रगाढ़ कर लिए। शाहजहाँ जब जहाँगीर की मृत्यु के बाद सम्राट बनने आगरा जा रहा था तो राणा ने गोगुन्दे में उसका स्वागत कर उसकी सुरक्षा का प्रबन्ध किया। 1628 ई. में कुछ अस्वस्थता के बाद राणा कर्णसिंह का देहान्त हो गया।

महाराणा जगतसिंह (1628–1652 ई.)
[Maharana Jagat Singh (1628–1652 A D)]

राणा कर्णसिंह के देहान्त के बाद उसका पुत्र जगतसिंह राणा के पद पर आरूढ़ हुआ। वह दुहरी नीति का पालन कर राज्य विस्तार के साथ ही मुगलों से सम्बन्ध ठीक बनाए रखना चाहता था। डा. गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में—'महाराणा कमजोर शत्रु को दबाता था और प्रबल शत्रु से दबता था और उससे युक्ति से काम निकाल लेता था।'[2]

उसने अपने राज्य विस्तार की पहली नीति के अनुसार जब शाहजहाँ जुझारसिंह बुन्देला के विरुद्ध युद्ध में व्यस्त था तो उसने देवलिया–प्रतापगढ़ के शासक जसवन्तसिंह द्वारा मेवाड़ के प्रभुत्व की अवहेलना करने पर उसके पुत्र को मरवा दिया किन्तु जब इसकी शिकायत शाहजहाँ से की गई तो सम्राट ने प्रतापगढ़ को मेवाड़ से अलग कर दिया। फिर भी राणा ने प्रतापगढ़, डूंगरपुर, बाँसवाड़ा व सिरोही में सेना भेजकर वहाँ लूटपाट की। इस कार्य से जब शाहजहाँ क्रुद्ध हुआ तो उसे शान्त करने हेतु राणा ने अपनी दूसरी नीति के अनुसार 1633 ई. में झाला कल्याणमल के साथ उपहार भेजे।

1 डॉ. ओझा उदयपुर राज्य का इतिहास
2 पूर्वोद्धृत, p 344

राणा जगतसिंह ने चित्तौड़ दुर्ग की मरम्मत कर ख्याति प्राप्त की। उसने ब्राह्मणों को भी प्रचुर दान दिया। उसने महाकाल व ओंकारनाथ की यात्रा की तथा उसकी माता जांबूवती ने द्वारिका की यात्रा की। उसने उदयपुर में जगन्नाथ राय का मंदिर बनवाकर उसमें शिलालेख उत्कीर्ण कराया तथा जग मन्दिर व उदय सागर के महलों का निर्माण भी कराया। उसका देहावसान 10 अप्रेल 1652 ई. को हुआ। उसके बाद उसका पुत्र राजसिंह गद्दी पर बैठा।[1]

महाराणा राजसिंह (1652–1680 ई.)
[Maharana Raj Singh (1652–1680 A. D.)]

सत्रहवीं शताब्दी में मेवाड़ का सबसे प्रतापी शासक राणा राजसिंह हुआ। उसने मुगल सम्राट शाहजहाँ व औरंगजेब के समय अपनी आक्रामक व निर्भीक प्रवृत्ति का परिचय दिया किन्तु मुगलों से सम्बन्ध पूर्ववत् बनाए रखने का भी प्रयास किया।

शाहजहाँ के समय राणा राजसिंह की उपलब्धियाँ—राज्यारोहण के समय शाहजहाँ ने राणा राजसिंह को उपाधि व मनसब के साथ पचहजारी मनसबदार भी बनाया। शाहजहाँ के समय राणा की निम्नांकित उपलब्धियाँ उल्लेखनीय हैं—

(i) **चित्तौड़ दुर्ग की मरम्मत**—श्यामलदास का कथन है कि—'महाराणा राजसिंह ने गद्दी पर बैठते ही किले की मरम्मत बड़ी तेजी के साथ करवाना शुरू किया। इन्हीं दिनों बादशाह के मुलाजिम मालवा तथा अजमेर में मंदिरों को गिराया करते थे। आपस में प्रीति कम हो गई, तो राणा के कर्मचारी भी छेड़ छाड़ करने में लग गए।'[2] राणा राजसिंह के पिता जगतसिंह ने चित्तौड़ दुर्ग की मरम्मत प्रारम्भ की थी जिसे राजसिंह ने पूरा कराया। जगतसिंह के समय तो शाहजहाँ ने इसे किसी प्रकार सहन किया किन्तु राजसिंह के कार्य को वह सहन न कर सका। उसने गढ़ को सेना सहित सादुल्ला खाँ को चित्तौड़ भेजा जिसने तरन्त किले के कंगूरों व बुर्जों को गिरा दिया। राणा राजसिंह ने राजपूतों को चित्तौड़ में हटा कर उस समय युद्ध न करने की दूरदर्शिता दिखाई। जब शाहजहाँ से संधि हो गई तो राणा ने अपने पुत्र को शाहजहाँ के दरबार में भेज दिया जहाँ उसे सम्मानित किया गया।

(ii) **प्रारम्भिक अभियान—टीका दौड़**—राणा राजसिंह चित्तौड़ दुर्ग की बुर्जों को तोड़ने पर मन ही मन बड़ा क्षुब्ध था और इस अपमान का बदला लेने हेतु अवसर की तलाश में था। 1657 ई. में शाहजहाँ की बीमारी व उसके शाहजादों में उत्तराधिकार युद्ध की तैयारी ने यह अवसर राणा को प्रदान किया। जब औरंगजेब ने सहायतार्थ राणा को पत्र लिखे तो राणा ने उसके पत्रों के उत्तर तो दिए किन्तु कोई सैनिक सहायता दक्षिण में औरंगजेब के पास न भेजी।

डा. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार— "राणा ने इस अवस्था का लाभ उठाने का निश्चय किया। वह जानता था कि अभी केन्द्रीय शक्ति का पूरा ध्यान राज

1 *Dr. G. N. Sharma*, Mewar & the Mughal Emperors, p. 142-52
2 श्यामलदास, वीर विनोद, पृ. 6–

कुमार की हत्यारों के प्रतिकार में लगा हुआ है और राजकुमार अपने स्वार्थ की सिद्धि में लगे हुए हैं ऐसे समय में उसके मन्तव्य सिद्धि पर सक्रिय रुकावट मुगल शक्ति की ओर से नहीं हो सकेगी। 'टीका दौड़ के उत्सव' का बहाना बनाकर जिसमें मुहूर्त से वर्ष की पहली शिकार का आयोजन राज्य की सीमा के बाहर किया जाता था राणा ने 2 मई 1658 ई. में अपने राज्य के तथा बाहरी मुगल थानों पर हमले करना आरम्भ कर दिए।'[1] श्यामलदास के शब्दों में— टीका दौड़ का मतलब है कि रस्म गद्दी नशीन होकर दुश्मन के इलाके लूट और अपनी धाक जमाए। बादशाह को इसकी खबर पहले ही लग गई थी। महाराणा राजसिंह ने प्रारम्भ से ही बड़ी सख्त कार्यवाही की। उससे बादशाह अधिक क्रुद्ध हुआ। लेकिन दारा शिकोह मेवाड़ का मददगार था। इसलिए खतरा टलता रहा।[2] अतः स्पष्ट होता है कि राणा ने टीका दौड़ की आड़ में अपने उन स्थानों को हथियाने का प्रयास किया जिन पर मुगल आधिपत्य हो गया था।

राणा ने 2 मई, 1658 ई. में ऐसे अभियान आरम्भ किए। उसने दरीबा माण्डल बनेड़ा शाहपुरा खरवड़ जहाजपुर सावर फूलिया आदि मुगल थानों पर हमला कर उन्हें लूटा। इसी समय उत्तराधिकार के युद्ध में राणा ने दारा की सहायता करने से इंकार किया क्योंकि औरंगजेब फतहाबाद में विजयी हो गया था। राणा ने टोडा मालपुरा टोंक चाकसू लालसोट को भी लूटा और जून माह तक अपनी राजधानी लौट गया। डा. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार— इस टीका दौड़ अभियान में राणा को लाखों रुपयों की सम्पत्ति मिली और वह खोये हुए भागों को अपने राज्य में सम्मिलित कर सका। औरंगजेब ने भी शासक बनते ही राणा के पद को 6 हजार जात और 6 हजार सवार बढ़ा दिया और गयासपुरा डूंगरपुर बांसवाड़ा के परगने उसके अधिकार क्षेत्र में कर दिए।[3]

(i) **औरंगजेब के समय राणा राजसिंह की उपलब्धियां**—औरंगजेब राणा से अपने विरुद्ध दारा की सहायता न करने के कारण प्रसन्न था। जब वह बादशाह बना तो उसने राणा को डूंगरपुर बांसवाड़ा और देवलिया पर कब्जा करने हेतु 1659 ई. में फरमान जारी किया। इसके फलस्वरूप राणा के आक्रमण से भयभीत हो इन राज्यों के शासकों ने राणा की अधीनता स्वीकार कर ली। किन्तु किशनगढ़ की राजकुमारी चारुमती के प्रसंग में औरंगजेब राणा से क्रुद्ध हुआ।

(ii) **किशनगढ़ की राजकुमारी चारुमति से विवाह**—उपरोक्त राज्यों को अधीन करने के बाद अगले वर्ष ही किशनगढ़ की राजकुमारी चारुमति से राणा ने विवाह कर उससे विवाह के इच्छुक औरंगजेब को अप्रसन्न कर दिया। श्यामलदास के अनुसार औरंगजेब ने कृष्णगढ़ के राजा रूपसिंह की अति सुन्दर पुत्री चारुमति से विवाह करने की इच्छा प्रकट की जिस पर उसके मशवरे से चारुमति के भाई मानसिंह

न स्वीकार कर लिया किन्तु चारुमति ने इस अस्वीकार कर राणा राजसिंह से उसकी रक्षा कर विवाह करने हेतु पत्र लिखा। राणा तुरन्त सेना सहित किशनगढ़ आया और मानसिंह को बन्दी बना चारुमति से विवाह कर उसे उदयपुर ले गया।[1] टाड के अनुसार इस समय राणा के चूडावत सरदार ने औरंगजेब (जो सेना के साथ किशनगढ़ आ रहा था) से युद्ध कर वीरगति प्राप्त की तथा राणा को चारुमति से विवाह कर उदयपुर चले जाने का समय दिया।[2] औरंगजेब की इस प्रसंग के प्रति प्रतिक्रिया को डा. शर्मा ने इस प्रकार व्यक्त किया है— औरंगजेब पर इसकी क्या प्रतिक्रिया हुई इस सम्बन्ध में कहना तो बड़ा कठिन है परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि सम्राट अप्रसन्नता को सम्भवतः पी गया और राणा तथा मुगल राज्य के सम्बन्ध पूर्ववत् बने रहे। [3] इससे प्रकट होता है कि औरंगजेब राणा की शक्ति से आतंकित था और इस अपमान का बदला लेने हेतु उपयुक्त अवसर की तलाश में था।

(iii) औरंगजेब की प्रतिक्रियावादी नीति व राणा का व्यवहार—1669 ई. में औरंगजेब ने मन्दिरों को नष्ट करने की आज्ञा प्रसारित की तथा 2 अप्रेल 1679 ई. में उसने हिन्दुओं पर जजिया कर लगा दिया। जजिया के विरोध में राणा ने एक पत्र औरंगजेब को लिखा जिसे टाड ने अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है। औरंगजेब इस पत्र को पढ़कर क्रुद्ध हुआ।

(iv) मेवाड़-मुगल युद्ध—औरंगजेब की प्रतिक्रियावादी नीति से राणा राजसिंह ने मुगलों से युद्ध करने की तैयारी आरम्भ कर दी। 1674 ई. में उसने गिवा (देबारी) के फाटक पर सुदृढ़ किवाड़ लगवाए तथा पर्वतों पर दीवारों और बुर्जों को अभेद्य बनाया। अध्याय-6 में दुर्गादास के नेतृत्व में जसवन्तसिंह के पुत्र अजीतसिंह की रक्षार्थ मुगलों से युद्ध व मेवाड़ से सहायता व अजीतसिंह को शरण देने व मारवाड़ साम्प्रदायिक मुगल संघर्ष का विवरण दिया जा चुका है। मारवाड़ मेवाड़ गुट बन जाने पर औरंगजेब ने उसके विरुद्ध अभियान किया।

30 नवम्बर 1679 ई. में औरंगजेब अजमेर से माण्डल होते हुए मेवाड़ की ओर बढ़ा। डा. शिवचरण मेनारिया के शब्दों में— माण्डल से उदयपुर की ओर बढ़ते समय बादशाह ने मेवाड़ के समस्त उत्तरी भू भाग को जीतकर माण्डल पर बदनोर चित्तौड़गढ़ बरठ मसराणगढ़ नीमच जीरण उठाला मगरोप कपासन, राजनगर लाखला मथुरा नगरी गगरार बंगू बनेड़ा तथा जिजानिया आदि स्थानों पर सैनिक चौकियाँ स्थापित कर दीं। तदुपरान्त सम्पूर्ण व्यवस्था से आश्वस्त होकर उसने देबारी के मार्ग से मेवाड़ की राजधानी उदयपुर पर आक्रमण करने के लिए प्रस्थान किया। 4 जनवरी 1680 ई. को देबारी पर आक्रमण कर अधिकार कर लिया और वहां के दरवाजे तुड़वाकर मुगल चौकी की

1 श्यामलदास वीर विनोद p 74
2 टॉड राजस्थान का इतिहास पृ 226
3 पूर्वोद्धृत, पृ 347

स्थापना कर दी।'[1] उदयसागर के समीप 24 जनवरी 1680 ई को मुगल सेना को राणा की सेना ने लूट कर बादशाह को चित्तौड़ की ओर जाने पर बाध्य किया। राजनगर के मोर्चे पर मुगल सेना ने राणा की सेना को लूटा। एक दूसरे मुगल सैन्य दल ने उदयपुर नगर में प्रवेश कर जगन्नाथ मन्दिर व अन्य 173 मन्दिरों को नष्ट किया। चित्तौड़ में बादशाह ने 66 देवालयों को नष्ट किया तथा महाबिन खां मेवाती को वहाँ का सूबेदार नियुक्त कर 6 मार्च 1680 ई को अजमेर लौट गया। राजपूतों ने गुरिल्ला युद्ध नीति का अवलम्बन कर मुगल सेना को आतंकित कर दिया। संख्या में अधिक होने पर भी शाही सेना कोई आशातीत सफलता अर्जित न कर सकी।[2]

शाहजादा अकबर व उसका सेनापति तहव्वुर खां राणा की सेना के विरुद्ध कोई सफलता प्राप्त न कर सके। राणा के राजकुमार भीमसिंह ने ईडर व गुजरात के प्रदेशों को लूटा। भीमसिंह को वापस मेवाड़ बुला कर राणा ने बदनौर में अकबर के आक्रमण का विफल किया। औरंगजेब ने 14 जून 1680 ई को शाहजादा आजम को मेवाड़ अभियान का नेतृत्व सौंपा किन्तु राणा की छापामार युद्ध नीति के विरुद्ध कोई सफलता प्राप्त न हो सकी। नाडोल के युद्ध (सितम्बर 1680 ई) में मारवाड़ मेवाड़ सेना को सफलता न मिली। राणा व दुर्गादास ने शाहजादा अकबर को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया और अकबर को औरंगजेब के विरुद्ध विद्रोही बनाने में सफलता मिली। इसी समय 22 अक्टूबर, 1680 ई को राणा राजसिंह की ओढ़ा ग्राम में मृत्यु हो गई।

राणा राजसिंह का व्यक्तित्व—डा गोपीनाथ शर्मा के अनुसार– 'महाराणा राजसिंह रण कुशल साहसी वीर तथा निर्भीक शासक था। उसे कला के प्रति रुचि थी जिसके फलस्वरूप उसने राजसमुद्र के बांध को कला कृतियों से अलङ्कृत किया। वह स्वयं अच्छा कवि था और विद्वानों का प्रशंसक तथा पोषक था। उसके समय में अनेक मन्दिरों का निर्माण हुआ जो उसकी कलात्मक प्रवृत्ति और धर्म निष्ठा के प्रमाण है। औरंगजेब जैसे शक्तिशाली मुगल शासक से मैत्री सम्बन्ध बनाए रखना तथा आवश्यकता आने पर शत्रुता बढ़ा लेना उसकी समयोचित नीति का फल है।[3] डा शिवचरण मेनारिया के शब्दों में— महाराणा राजसिंह रण कुशल, साहसी वीर, निर्भीक एवं धर्मनिष्ठ राजा था। उसने औरंगजेब द्वारा हिन्दुओं पर जजिया कर लगाने तथा हिन्दू मन्दिरों व मूर्तियों तोड़ने का विरोध किया। श्री नाथजी' की मूर्ति को मेवाड़ में स्थापित करवा कर उन्होंने अपनी धर्म निष्ठा का परिचय दिया। मुगलों के विरुद्ध चल रहे युद्धों में उसके द्वारा प्रदर्शित वीरता तथा बुद्धिमत्ता प्रशंसनीय है। औरंगजेब के विरोध के बावजूद अजीतसिंह को मेवाड़ में शरण देना उसकी परम्परागत शरणागत वत्सलता का श्रेष्ठ उदाहरण

1 डॉ शिवचरण मेनारिया उत्तर मुगलकालीन मेवाड़, p 25–26

2 सरकार औरंगजेब भाग–3 p 344–47

3 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास p 353

है। उसका स्वभाव क्रोधी था। उसे दान पुण्य में विशेष रुचि थी। जनसाधारण के लिए उसके द्वारा निर्मित राजसमुद्र झील सिंचाई तथा पीने के पानी के लिए बहुत सहायक रही। वह कवियों तथा विद्वानों का सम्मान करने वाला एक योग्य शासक था।'[1] मेवाड़ मुगल सम्बन्धों का गहन अध्ययन करने वाले इतिहासकारों के इन कथनों से राणा राजसिंह के बहुआयामी व्यक्तित्व का परिचय मिलता है। कर्नल टॉड ने उसके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर कहा है कि— राणा राजसिंह ने अपने शासनकाल में राज्य के वैभव के लिए बहुत से काम किए। मैं समझता हूँ कि संसार का कोई भी न्यायप्रिय मनुष्य अवश्य ही राणा राजसिंह की प्रशंसा करेगा।'[2]

महाराणा जयसिंह (1680-1698)

महाराणा राजसिंह के समय मुगलों से संघर्ष जारी रखा गया। शाहजादा अकबर व उसके सेनापति तहव्वुर खाँ के विरुद्ध राणा के भाई भीमसिंह ने मुगल आक्रमण का असफल प्रतिरोध किया। यह युद्ध 22 नवम्बर 1680 को देसूरी नदी के निकट भीलवाड़ा स्थान पर हुआ था। मुगल सेना ने राजनगर पर अधिकार किया किन्तु गोगुन्दा के पास राणा की सेना ने उसे भगा दिया। अन्त में राणा को शाहजादा अकबर को बागी बनाने में सफलता मिली और उससे संधि हुई। 1 जनवरी 1681 ई. को अकबर ने नाडोल में स्वयं को सम्राट घोषित कर दिया। औरंगजेब ने उसके विद्रोह दमन हेतु षड्यन्त्र का मार्ग अपनाया। एक पत्र द्वारा दुर्गादास के मन में अकबर के प्रति सन्देह उत्पन्न कर उसमें पृथक कर दिया किन्तु शीघ्र ही बादशाह की चाल का पता चलते ही दुर्गादास ने अकबर को सुरक्षित मेवाड़ से दक्षिण में शम्भाजी के संरक्षण में जून 1681 ई. में भिजवा दिया। 24 जून को मुगल मेवाड़ संधि सम्पन्न हुई।

मुगल मेवाड़ संधि—इस संधि की शर्तें निम्नांकित थीं—

(1) महाराणा पुर माण्डल तथा बदनौर के परगने जजिया' के एवज में मुगल साम्राज्य को सौंप देगा।

(2) राणा के पुरखों की सारी भूमि राणा को वापस लौटा दी जाएगी।

(3) राणा को पदवी और पाँच हजार का मनसब जो पूर्व में राणा के पुरखों को प्राप्त था पुनः राणा को प्रदान किया जाएगा।

(4) मुगल सेनाएँ मेवाड़ से हटा ली जायेंगी।

डा. मनारिया ने इस संधि के परिणामों को व्यक्त करते हुए कहा है कि— 1681 ई. की मेवाड़ मुगल संधि में औरंगजेब मेवाड़ के महाराणा को राठौड़ सीसोदिया संगठन से अलग करने में सफल हो गया। राठौड़ों की सहायता नहीं करने तथा अजीतसिंह को मेवाड़ में संरक्षण न देने की बात राणा को स्वीकार कराकर औरंगजेब अपने ध्येय में सफल रहा। उसने जजिया कर नहीं देने वाले

1 डा. शिवचरण मनारिया उत्तर मुगलकालीन मेवाड़ p 39 90

2 टॉड राजस्थान का इतिहास पृ 232 33

महाराणा से जजिया' की एवज म परगने प्राप्त करके ही सन्तोष कर लिया। इधर महाराणा को भी मेवाड के मुगलो द्वारा जीते गए क्षेत्र वापस मिल गए उनका पतृक राज्य ज्यों का त्यो बना रहा तथा मेवाड राज्य को युद्ध स भी मुक्ति मिल गई।"[1] वस्तुत इस सधि से मेवाड मुगल सम्ब धो का एक नवीन अध्याय प्रारम्भ हुआ तथा राणा जयसिह को युद्ध पीडित मेवाड के पुनर्निर्माण का अवसर मिला।

राणा जयसिह की विलासी प्रवृत्ति के कारण युवराज अमरसिंह न सशस्त्र विद्रोह किया। इस विद्रोह का सलूम्बर के राव केशरीसिंह न प्रोत्साहित किया था। युवराज न उदयपुर आकर अपना राज्याभिषेक भी करवा लिया। पिता पुत्र म भीलवाडा म 1692 ई म युद्ध की स्थिति टालने व समझौता कराने म कुछ सामन्त सफल रहे। समझौते के अनुसार युवराज को राजनगर की जागीर दी गई तथा पिता पुत्र द्वारा परस्पर एक दूसरे के काय मे दखल न देना भी स्वीकृत हुआ। राणा जयसिह न अपनी राजकुमारियो के विवाह 1696 ई मे कोटा व बूदी के राजघरानो म कर उनसे मधुर सम्बन्ध बना लिए। 23 सितम्बर 1698 इ को राणा जयसिह का 45 वष की आयु म देहान्त हो गया। उनके बाद महाराणा अमरसिंह द्वितीय बना। राणा जयसिह न 4 तालाब बनवाए जिनम जयसमुद्र विश्व की सबसे बडी कृत्रिम झील है। उसने जयनगर व भदेसर कस्बे भी बसाए व अनेक महल मन्दिर व बाग बनवाए।

महाराणा अमरसिंह द्वितीय (1698-1710 ई)

सत्रहवी शताब्दी म मेवाड के अन्तिम महाराणा अमरसिह द्वितीय थ। इस अवधि म राणा ने डूगरपुर बांसवाडा व देवलिया पर अभियान कर उन्ह अपने अधीन बनाया। पुर, माण्डल व बदनौर को अधिकृत करन के प्रयास भी किए गए। औरगजब न राणा द्वारा 1000 घुडसवार भेजने पर पुर माण्डल व बदनौर के पट्टे दे दिए और प्रसन्न होकर राणा को सिरोही व आबू की जागीर प्रदान की। राणा के मुगलो स सम्बन्ध सामान्य हो गए।

1 डॉ मनोरिया उत्तर मुगलकालीन मेवाड, पृ 52

8

अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राजस्थान का उदय—1761 तक मराठा-आक्रमणों के प्रति राजपूत नीति

(Rise of Rajasthan in the First Half of 18th Century—Rajput Policy towards Maratha Incursions upto 1761)

अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे राजस्थान का उदय
(Rise of Rajasthan in the First Half of 18th Century)

1700 ई म आमर की गद्दी पर सवाई जयसिंह के गद्दी पर बैठने तथा 1707 ई म मुगल सम्राट औरगजेब की मृत्यु हो जाने पर मुगल साम्राज्य के पतन से लाभ उठाकर राजस्थान के नरशो द्वारा अपने राज्य विस्तार की महत्त्वाकांक्षा ने 18वी शताब्दी के पूवार्द्ध म राजस्थान के उदय की पृष्ठभूमि निर्मित की। उदयपुर का महाराणा जगतसिंह जयपुर का सवाई जयसिंह जोधपुर का महाराजा अभयसिंह तथा अन्य राजस्थान के राज्यो के प्रमुख नरशो ने पतनोन्मुख मुगल साम्राज्य से लाभ उठाने तथा मराठो को राजस्थान म घुसपैठ को रोकने हेतु परस्पर एकता स्थापित करने का जो प्रयास किया वह निश्चित ही 18वी शताब्दी के पूवार्द्ध म राजस्थान के एक उदीयमान शक्ति के रूप म उभरने का प्रमाण था। एकता के इस प्रयास की चरम परिणति 1734 ई म आयोजित हुरडा सम्मेलन म हुई जहा सभी राजस्थान के प्रमुख नरशो ने एक सयुक्त मोर्चा बनाने की शपथ ली किन्तु ये प्रयास जैसा कि हम आगे देखेंगे राजस्थानी नरशो के व्यक्तिगत स्वार्थों व परस्पर फूट के कारण क्रियान्वित न किए जा सके। यदि ये प्रयास सफल हो

जाते तो भारत का इतिहास कुछ दूसरा ही होता। राजस्थान को इस अवधि में एक उदीयमान शक्ति के रूप में प्रस्थापित करने में सर्वाधिक योगदान आमेर नरेश सवाई जयसिंह का था। जयसिंह ने ही राजस्थान को 18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में शक्ति-सम्पन्न बनाने में अन्य राजस्थानी नरेशों का नेतृत्व किया व अपना प्रभुत्व स्थापित किया। डा वी एस भार्गव के शब्दों में— मई 1741 ई के अन्त तक आमेर के शासक के रूप में भी सवाई जयसिंह राजस्थान का सर्वोच्च शासक बन गया था।[1]

अतः राजस्थान के उदय का श्रेय सवाई जयसिंह की उपलब्धियों को जाता है जिसने मराठों के प्रति राजपूत नीति का निर्धारण किया। मुगल मनसबदार व सूबेदार के रूप में तथा अन्य राजस्थानी नरेशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर उनका नेतृत्व कर मराठों से सम्बन्ध स्थापित करने व उनका प्रतिरोध करने में सवाई जयसिंह ने अपनी कूटनीतिक कुशलता का परिचय दिया। अतः मराठों के प्रति राजपूत नीति के निर्धारण व क्रियान्वयन में उसकी उपलब्धियों के प्रसंग में अन्य राजस्थान के राज्यों के योगदान का भी विवरण दिया जाना समीचीन है।

1761 तक मराठा-आक्रमणों के प्रति राजपूत नीति
(Rajput Policy towards Maratha Incursions upto 1761)

मराठा राजपूत सम्बन्धों का आधार

वी एस निवाकर के अनुसार— मराठा शक्ति के उदय काल से ही मेवाड़ और मराठा सरदारों में मित्रता प्रतीत होती है। शिवाजी अपने आपको क्षत्रीय और सीसोदिया वंश का राजा मानते थे। यही कारण है कि उन्होंने वैदिक परम्पराओं के अनुसार 1674 ई में अपना राज्याभिषेक करवाया और भारत में सबसे अधिक विद्वान पण्डित गागा भट्ट को बुलाकर अपना राज्याभिषेक कराया था।"[2] यद्यपि इतिहासकार यदुनाथ सरकार व ग्रांट डफ इसे स्वीकार नहीं करते किन्तु राबर्ट ओर्मी ने कहा है कि— मराठा साम्राज्य के संस्थापक छत्रपति शिवाजी अपनी उत्पत्ति वैदिककालीन क्षत्रियों से मेवाड़ के महाराणा के द्वारा मानते थे। अतः शिवाजी ने अपने जीवन में मराठों और राजपूतों के बीच रक्त सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिश की थी।'[3] सर देसाई व विनायक दामोदर सावरकर ने शिवाजी के राजनीतिक आदर्श (हिन्दू पद पादशाही) का आधार राजपूतों और मराठों के बीच रक्त सम्बन्ध स्वीकार किया है। श्यामलदास ने कहा है कि— शिवाजी का दादा मालू घोसला मेवाड़ के सीसोदिया वंश का एक योग्य घुड़सवार अधिकारी था। 1600 ई में मालू घोसला ने अहमद नगर के सुल्तान की नौकरी कर ली जहाँ मुसलमान पीर शाह सेफर की मिन्नत मानने पर उसके जो पुत्र हुआ

1 डा वी एस भार्गव राजस्थान का इतिहास p 261
2 वी एस निवाकर राजस्थान का इतिहास, p 284
3 *Robert Orml* The Fragements of the Mughal Empire p 5

उसका नाम शाहजी रखा गया। शिवाजी इसी शाहजी के पुत्र थे।"[1] शिवाजी के पुत्र शम्भाजी का विवाह रामनगर की सीसादिया राजकुमारी से इसीलिए हुआ कि शिवाजी क्षत्रिय थे और उनके पूर्वज मेवाड निवासी थे।

राजपूत-मराठा सहयोग—डा बी एस भार्गव ने राजपूतो से इस वंशगत घनिष्ठता के बावजूद राजपूत नरेशो द्वारा शिवाजी के विरुद्ध अभियान करने पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि— फिर भी यह भाग्य की विडम्बना है कि मुगल सम्राट औरगजेब के शासन काल मे शिवाजी के दमन का भार तत्कालीन भारत के दो प्रमुख राजपूत राजाओ—जोधपुर नरेश महाराजा जसवन्तसिंह एव आमेर नरेश मिर्जा राजा जयसिंह के हाथो मे सौंपा गया। जयसिंह ने सन् 1666 ई मे शिवाजी को समझा बुझाकर औरगजेब के दरबार मे आगरे भिजवा दिया। जब औरगजेब द्वारा शिवाजी को बन्दी बना लिया गया तो मिर्जा राजा के पुत्र रामसिंह ने अप्रत्यक्ष रूप से शिवाजी की सहायता करके उनकी मुक्ति का सम्भव बनाया। इसका परिणाम यह निकला कि शिवाजी की मृत्यु के बाद उनके पुत्र और उत्तराधिकारी शम्भाजी के शासन काल मे दुर्गादास राठौड ने औरगजेब के विद्रोही पुत्र शाहजादा अकबर को शम्भाजी के दरबार मे ले जाकर 1685 ई मे मारवाड के राठौड और मराठो के बीच मुगलो के विरुद्ध गठबन्धन करने का प्रयत्न किया। किन्तु यह प्रयत्न सफल न हो सका क्योकि अकबर द्वारा शम्भाजी के प्रतिद्वन्द्वी राजाराम से सम्बन्ध बढाने पर शम्भाजी ने सन्देह कर उसे शरण नही दी। औरगजेब की चालो व षडयन्त्र के कारण राजपूत मराठा सहयोग नही हो सका किन्तु उसकी मृत्यु के बाद यह सहयोग हुआ।

1719 ई मे पेशवा बालाजी विश्वनाथ ने सय्यद बन्धुओ के आमन्त्रण पर दिल्ली की यात्रा की व मराठा मुगल सन्धि हुई किन्तु मराठो की विस्तारवादी नीति के कारण यह सन्धि विफल रही। बालाजी विश्वनाथ के पुत्र बाजीराव प्रथम के कार्यकाल मे मराठा राजपूत सहयोग सम्भव हो सका जिसका श्रेय आमेर नरेश सवाई जयसिंह को है। जयसिंह व पेशवा बाजीराव प्रथम की मित्रता दिल्ली मे हो गई थी जिसके कारण मुगल मराठा सहयोग हुआ किन्तु दिल्ली मे दलबन्दी के कारण सम्राट ने जयसिंह की मराठो को रियायतें देने की बात नही मानी और उसे मालवा की सूबेदारी से हटा दिया गया। सवाई जयसिंह की नीति का स्पष्ट करते हुए डा बी एस भटनागर का कथन है कि— जयसिंह ने मराठो व मुगल सरकार के बीच ऐसे समझौते का प्रयत्न किया जो मराठा आकाँक्षाओ की बहुत कुछ पूर्ति करते हुए मुगल साम्राज्य व बादशाह के सार्वभौमिक स्तर के विरुद्ध न हो। जयसिंह का विचार था शाहू को जागीरें व मराठा सरदारो को उपयुक्त मनसब देकर उन्हे गिरते हुए मुगल साम्राज्य का प्रमुख आधार बना लिया जाए। इस

1 श्यामलदास वीर विनोद भाग-2 p 1581-82
2 डॉ बी एस भार्गव राजस्थान का इतिहास p 247-48

उद्देश्य की पूर्ति के लिए 1703 ई के बाद जयसिंह ने अनवरत प्रयत्न किए और जिससे ऐसा प्रतीत होने लगा था कि उसका उद्देश्य पूरा हो जाएगा और मराठे एक जिम्मेदार शक्ति के रूप में बादशाह को सार्वभौम मानते हुए साम्राज्य के प्रमुख आधार बन जायेंगे।'[1] किन्तु मुगल सम्राट पर जयसिंह विरोधी तूरानी गुट का प्रभाव अधिक था जिससे उसकी नीति सफल न हो सकी।

सवाई जयसिंह ने अपनी मालवा की सूबेदारी में जो उसे तीन बार प्राप्त हुई (1713 1730 व 1732 ई में) मराठों के प्रति अपनी उपरोक्त नीति को कार्यान्वित करना चाहा किन्तु विरोधी गुट के कारण सम्राट ने उसकी योजना सफल न होने दी जिसका परिणाम यह हुआ कि मराठों का प्रवेश मालवा गुजरात तथा राजस्थान में हुआ और अन्त में वे दिल्ली तक जा पहुंचे।

राजस्थान में मराठा हस्तक्षेप के कारण

वी एस दिवाकर ने राजस्थान में मराठों के हस्तक्षेप के निम्नांकित कारण बतलाए हैं[2]—

(i) **राजपूतों की अयोग्यता**—डा रघुवीर सिंह के अनुसार—"पिता ने पुत्र को और बेटे ने बाप को मारा कुलीन ललनाओं को धोखा देकर अपने निकटतम प्यारे सगे सम्बन्धियों को निःसंकोच विष पिलाया। राजस्थान में सर्वत्र मार काट घृणित षडयन्त्र, वचन भंग एवं अविश्वसनीय विश्वासघात का दौर दौरा हो गया और उसमें सफलता प्राप्त करने के लिए दोनों पक्ष वाले विदेशियों से भी सहायता मांगने में नहीं हिचके। यों मराठों का राजस्थान में सर्वत्र प्रवेश हो गया और उन्होंने तथा पिण्डारियों ने जी भर कर राजस्थान को लूटा।[3] ये कथन राजपूतों की अयोग्यता व उसके कारण मराठों की घुसपैठ का कारण प्रकट करते हैं।

(ii) **शिवाजी का मेवाड़ से पैतृक सम्बन्ध**—पूर्व में बताया जा चुका है कि शिवाजी का मेवाड़ के सीसोदिया वंश से पैतृक सम्बन्ध था जिसके कारण मराठे जहां एक ओर राजपूतों से सहयोग के आकांक्षी थे वहां दूसरी ओर वे शक्ति सम्पन्न बन कर राजपूतों से समानता का व्यवहार चाहते थे किन्तु मुगल नीति के कारण वे सफल न हो सके। जगदीशसिंह गहलोत का यह कथन उपयुक्त है कि—राजपूतों ने मराठों को एक नवजात शक्ति के रूप में देखकर अवहेलना की और मराठों ने अपनी शक्ति की सफलता स्थापित कर राजपूतों से समानता का व्यवहार चाहा। वे मुगलों के विरुद्ध राजपूतों को अपना सहयोगी नहीं बना सके।[4]

1 डॉ वी एस भटनागर सवाई जयसिंह
2 वी एस दिवाकर राजस्थान का इतिहास p 283-289
3 डॉ रघुवीरसिंह पूर्व आधुनिक राजस्थान p 167
4 जगदीशसिंह गहलोत मेवाड़ राज्य का केन्द्रीय शक्तियों से सम्बन्ध p 38

(iii) मुगल साम्राज्य की पतनोन्मुख दशा—औरगजेब की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारियो के अयोग्य होने के कारण राजपूत मराठे व मुसलमान शासको को भी विरोधी बना दिया। मराठा इतना प्रबल हो गए कि 16 फरवरी 1718 ई को पेशवा बालाजी विश्वनाथ ने दिल्ली जाकर सय्यद बन्धुओ की सहायता से मुगल सम्राट फरुखसियर को मरवा डाला। मुगल सम्राटो की दुर्बलता से मराठो को राजस्थान मे हस्तक्षेप करने की प्रेरणा मिली और उन्होने राजस्थान से धन वसूल करने हेतु उसे दुधारु गाय बना दिया।

(iv) बूँदी, जयपुर व उदयपुर के उत्तराधिकार युद्ध मे सवाई जयसिंह की नीति—बूँदी जयपुर व उदयपुर के उत्तराधिकार के झगडो मे सवाई जयसिंह ने अपने प्रभाव क्षेत्र को बढाने की महत्त्वाकांक्षा से मराठो को राजस्थान के राज घरानो मे हस्तक्षेप करने को उकसाया। मराठो की घुमपेठ की रूपरेखा जयसिंह ने ही तयार की जो राजस्थान के लिए हानिकारक सिद्ध हुई।

(v) विदेशी आक्रमण—1739 ई मे नादिरशाह तथा 1761 ई मे अहमद शाह अब्दाली के आक्रमणो ने मुगल साम्राज्य के पतन मे विनाशक भूमिका निभाई। मुगल साम्राज्य के पतन के बाद राजपूत मराठा सघर्ष तीव्र हो गया। मराठो से तग होकर राजस्थान के नरेशो ने अग्रेजो से सधि करना ही श्रेयस्कर समझा।

मराठो के प्रति राजपूत नीति

डा गुप्ता व डा ओझा का मत है कि— मराठो के मालवा गुजरात पर आक्रमण की चिन्ता न केवल मुगल सम्राट को ही हुई अपितु राजस्थानी शासको के लिए भी यह गहन चिन्ता का विषय बन गया जिसके दो कारण थे—

(1) मुगल शक्ति के पतन का लाभ उठाने की आशा मे उन्होने मराठा शक्ति को बाधक समझा।

(2) शक्तिशाली मराठा का इन प्रदेशो मे प्रवेश भी इनके लिए खतरे की सूचना थी क्योकि इसके पश्चात् इन प्रान्तो की सीमा पर लगे हुए राजस्थानी राज्य मुख्यत मेवाड, बूँदी और कोटा की बारी थी। यह स्वाभाविक ही था कि दिल्ली तक जाने की इच्छा रखने वाले मराठा बीच मे पडने वाले भाग राजस्थान को भी अपने प्रभाव मे लाना चाहते थे। शक्तिहीन एव पतनोन्मुख मुगल साम्राज्य ने मराठा व राजस्थान को आमने सामने ला खडा किया।[1]

सवाई जयसिंह की मुगल सूबेदार होने की दृष्टि से मराठो के प्रति नीति ने मराठो के आक्रमणो के प्रति राजपूत नीति को सर्वाधिक प्रभावित किया। डा वी एस भटनागर के अनुसार— जयसिंह ने यथासम्भव यह प्रयत्न किया कि मराठो के उत्तरोत्तर बढते हुए विस्तार को रोका जाए अथवा उसकी गति धीमी

1 डॉ के एस गुप्ता व डा ज के ओझा राजस्थान का इतिहास–एक सर्वेक्षण p 202–203

की जाए जिससे कि राजनीतिक व्यवस्था एकाएक ही नष्ट न हो जाए। यथासम्भव वह मालवा के दक्षिणी भागों में मराठों को मान्यता देकर के द्राय मालवा में अपना प्रभुत्व रखना अधिक उपयोगी मानता था।[1] इस नीति में सवाई जयसिंह का व्यक्तिगत स्वार्थ भी छिपा था। वह आमेर राज्य का विस्तार साभर से नर्मदा नदी के उत्तर तक विस्तार करना चाहता था।

राजपूतों की मराठों के प्रति इस नीति का असफल होने के कारणों में मुगल सम्राट का सहयोग न देना जयसिंह का व्यक्तिगत स्वार्थ तथा राजपूत नरेशों के परस्पर झगड़े के कारण उनके मध्य एकता न होना था।

मराठा आक्रमणों को रोकने का प्रयास

मराठों ने सर्वप्रथम 1711 ई में नर्मदा नदी को पार कर मंदसौर के निकट मेवाड़ क्षेत्रों में प्रवेश कर धन वसूल किया। महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय चिंतित हुए। डा जे के ओझा के शब्दों में— उसके (महाराणा) द्वारा सवाई जयसिंह को भेजे गए पत्रों से स्पष्ट होता है कि तब मराठों के विरुद्ध मेवाड़ में योजनाएं बनाई जा रही थीं।[2] मराठा प्रसार की आशंका से अन्य राजस्थानी शासक भी चिंतित होकर किसी उपाय की खोज में थे। डा गुप्ता व ओझा का कथन है कि— उधर मुगल सम्राट भी मराठों को रोकने के लिए चिंतित था। उसके लिए यह आवश्यक हो गया कि कोई ऐसा शक्तिशाली सूबेदार मालवा में नियुक्त किया जाए जो मराठों को खदेड़ सके। आमेर का शासक सवाई जयसिंह इस दृष्टि से सबसे योग्य था। अतः अक्टूबर 1713 ई में उसे मालवा का सूबेदार नियुक्त किया गया तथा मारवाड़ के अजीतसिंह को गुजरात का सूबेदार बनाया गया।[3] जयसिंह ने मेवाड़ व अन्य राजस्थानी शासकों की सहायता से अनेक स्थानों पर मराठों को पराजित किया किन्तु कोई परिणाम न निकला अतः 1715 ई में जयसिंह को मालवा से बुलाकर जाटों के विद्रोह दमन हेतु भेजा गया। मालवा में घुसपैठ कर नए पेशवा बाजीराव ने चौथ वसूल की तथा रामपुरा, बूंदी व कोटा पर भी आक्रमण किया। 1726 ई में मराठों ने पुनः कोटा व बूंदी पर आक्रमण किया व मेवाड़ में भी घुसपैठ की। 1728 ई में मराठों ने मेवाड़ के शाहपुरा राज्य से खर्चे की मांग की किन्तु युद्ध होने पर मराठे भाग गए। डूंगरपुर व बांसवाड़ा से मराठों ने खिराज' वसूल किया।

इस स्थिति में मुगल सम्राट व राजपूत शासकों में चिन्ता व परस्पर सहयोग की भावना उत्पन्न हुई। 1730 ई में सवाई जयसिंह को दूसरी बार मराठों के विरुद्ध सामना करने के लिए मालवा का सूबेदार बनाया गया। जयसिंह ने मराठों से मित्रता करने हेतु सम्राट को शाहू के पुत्र कुशालसिंह को जागीर देने का प्रस्ताव

1 डॉ वी एस भटनागर सवाई जयसिंह पृ 130-31
2 डॉ जे के ओझा मेवाड़ का इतिहास, पृ 7
3 पूर्वोक्त, p 203

भेजा किन्तु सम्राट ने विरोधी तूरानी गुट के प्रभाव में इस प्रस्ताव का अस्वीकार कर दिया और जयसिंह के स्थान पर मुहम्मद बंगश को मालवा का सूबेदार बना दिया गया।

गुजरात में सूबेदार सर बुलंदखाँ को 23 मार्च 1730 ई. में मराठा सरदार चिमाजी से समझौता करना पड़ा। अतः गुजरात की सूबेदारी मारवाड़ के महाराजा अभयसिंह को दी गई किन्तु अभयसिंह को भी कोई सफलता न मिली व उसे मराठों से समझौता करना पड़ा। 1733 ई. में अभयसिंह वापस जोधपुर लौट गया। मालवा में बंगश के स्थान पर पुनः तीसरी बार सवाई जयसिंह को 6 दिसम्बर 1732 ई. को सूबेदार नियुक्त किया गया। मुगल सम्राट ने मराठों के विरुद्ध तैयारी करने हेतु जयसिंह को 13 लाख रुपये दिए। जयसिंह ने जयपुर मेवाड़ के संयुक्त प्रयासों से मालवा की सुरक्षा हेतु एक नवीन योजना बनाई। डा. के. एस. गुप्ता के अनुसार जयसिंह व उदयपुर के महाराणा में निम्नांकित समझौता हुआ[1]—

(1) मालवा में मेवाड़ की ओर से 24–25 हजार सवार व 9 हजार पैदल तथा जयपुर के 15 हजार सवार व 15 हजार पैदल होंगे।

(2) राजस्व व पेशकश से जो आमदनी होगी उसका एक भाग मेवाड़ को तथा 2 भाग जयपुर को मिलेगा।

(3) उदयपुर का भाई भाई नगराज अपनी फौज के साथ 1732 33 ई. के दौरान में सवाई जयसिंह के पास 7 महीने तक रहेगा और इसके बाद प्रतिवर्ष 6 6 महीने दोनों की फौजें सूबे में रहेंगी।

(4) दोनों राज्य के वकील नायब व मुत्सद्दी मिलकर काम करेंगे और यदि मराठों से समझौता हो गया तो जो भूमि व राजस्व बादशाह उन्हें सूबे में से देंगे उसका भार दोनों राज्य बराबर बराबर बाँट लेंगे।

इस प्रकार जयसिंह व महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय ने संयुक्त रूप से मालवा में मराठों का प्रतिरोध करने का संयुक्त प्रयास किया किन्तु नीति समझौतावादी ही अपनाई। मराठे दक्षिणी मालवा पर आधिपत्य कर चुके थे। जयसिंह ने फरवरी 1733 ई. में मराठों से युद्ध किया जिसमें मराठों की विजय हुई और विवश होकर जयसिंह को 6 लाख रुपये नकद तथा चौथ के बदले मालवा के 28 परगने मराठों को देना स्वीकार करना पड़ा। इस पराजय से जयसिंह की प्रतिष्ठा को धक्का लगा तथा यह स्पष्ट हो गया कि मराठों के आक्रमण का प्रतिरोध करने हेतु जयपुर व मेवाड़ की सेना अपर्याप्त थी।

बूँदी समस्या—इसी समय राजस्थान में सवाई जयसिंह की प्रभुत्व स्थापित करने की महत्त्वाकांक्षा ने बूँदी के उत्तराधिकार के झगड़े में मराठों का हस्तक्षेप करने का अवसर दिया। जयसिंह ने अपने बहनोई बूँदी के शासक बुधसिंह हाड़ा

1 *Dr. K. S. Gupta* Mewar & the Maratha Relations p. 35-36

को बूदी की गद्दी स हटाकर करवर के हाडा सालिमसिह के छोटे पुत्र दलल सिह का 19 मइ 1730 ई को वहाँ का शासक बना दिया। डा रघुवीरसिह के श दा म—'बूदी का यह नया शासक अब सवाई जयसिह का एक सामत बन गया, और बूदी का प्राचीन स्वतन्त्र राज्य अब आम्बेर के राज्य का ही एक अग मात्र समझा जाने लगा। परन्तु जयसिह की इस सफलता ने राजस्थान म एक नई उलझन पदा कर दी जिसके फलस्वरूप कुछ ही वर्षों बाद मरहठा न वहाँ की राजनीति म भी प्रथम बार प्रवेश किया। बुद्धसिह ने उदयपुर व बाद म वगू म शरण ली। दललसिह के बड़े भाई ने ईर्ष्यावश बुद्धसिह की सहायतार्थ दक्षिण जाकर 6 लाख रुपये देकर मल्हारराव होलकर व राणोजी सिधिया को बूदी पर आक्रमण हेतु तयार कर लिया। 22 अप्रेल 1734 ई म मराठा सना ने बूँदी पर अधिकार कर बुद्धसिह को पुन गद्दी पर बठा दिया। बुद्धसिह की रानी ने होलकर को राखी बाँधकर अपना भाई बनाया। यद्यपि जयसिह ने बूँदी स मराठा क जात ही पुन दललसिह को बूँदी की गद्दी पर बठा दिया था तथापि इस घटना ने मराठा को राजस्थान क राजघराना के मामला म हस्तक्षेप कर आक्रमण करन का प्रा साहित कर दिया।

हुरडा सम्मेलन (17 जुलाई, 1734)
(Hurda Conference 17th July 1734)

डा गोपीनाथ शर्मा क अनुसार— महाराजा जयसिह ने जब मालवा म अपनी शक्ति को निबल पाया और देखा कि वहाँ मराठे अधिक बल पकड रहे ह तो उसने राजपूताना आदि क राजाओ को एकत्र कर उनकी सम्मिलित शक्ति स मराठा का मुकाबला करन की योजना बनाई। जयपुर राज्य को परिवर्धित करने के लिए उसकी अभिलाषा मालवा और रामपुरा को उससे मिलाने की थी। महाराणा अभयसिह भी गुजरात का मारवाड स मिलाकर जोधपुर की सीमा बढाना चाहता था। महाराणा जगतसिह (द्वितीय) भी अपने पडोस म मराठो का शक्तिशाली दखना नहीं चाहता था। राजपूताने के अन्य शासक भी अपनी शक्ति का बढाने क उद्योग म थ। मराठो की शक्ति का कम करने म सभी शासक उत्सुक थे क्योकि बिना इसस न तो उनके राज्य की सीमाए बढ सकती थी और न व सुरक्षित ही अनुभव करत थे।"[1] राजस्थान के नरशा की मराठो का प्रतिरोध करने हेतु सगठन करन की इच्छा इस कथन स स्पष्ट होती है किन्तु उनके व्यक्तिगत लाभ हेतु अपना आकाक्षाओ की पूर्ति करने की प्रबल अभिलाषा भी प्रकट होती है।

सभी प्रमुख राजपूत नरशा को एक स्थान पर एकत्रित कर सर्वसम्मति म मराठो क आक्रमणो के सामूहिक प्रतिरोध क सकल्प का उदाहरण दिनाक 17 जुलाई 1734 ई का गुनावपुरा व विजय नगर के मध्य मवाड म स्थित हुरडा नामक कस्बे म आयोजित एक सम्मलन था। डा मथुरालाल शमा का मत

1 डा गोपीनाथ शमा राजस्थान का इतिहास p 392 93

है कि— यह सम्मेलन सवाई जयसिंह ने बुलाया था।[1] डा कृष्ण स्वरूप गुप्ता के अनुसार— इस सम्मलन के सयोजक मवाड के महाराणा जगतसिंह द्वितीय थ।'[2] कि तु डा वी एस भागव का मत है कि— यह सम्मलन महाराणा जगतसिंह व सवाइ जयसिंह के सयुक्त प्रयत्नो के परिणामस्वरूप बुलाया गया था।[3] इससे प्रकट होता है कि हुरडा सम्मेलन राजस्थान के नरेशो के दो प्रतिनिधि बडे राज्यो–जयपुर व मेवाड द्वारा आयोजित था जिस सभी नरेशो की सम्मति एव समथन प्राप्त था। इस सम्मलन के प्रेरक महाराणा सग्रामसिंह का देहान्त इस सम्मलन के आयोजन के पूव 1734 म हो गया था।

इस सम्मलन म जयपुर के सवाई जयसिंह मेवाड व महाराणा जगतसिंह द्वितीय मारवाड के महाराजा अभयसिंह बीकानेर नरेश जोरावरसिंह बू दी के निर्वासित शासक दलेलसिंह कोटा के महाराव दुजनशाल नागौर के राजा बख्तसिंह आदि सम्मिलित हुए। सम्मलन की अध्यक्षता महाराणा जगतसिंह ने की। इस सम्मलन म जो समझौता अकित किया और जिस पर उपस्थित शासको ने 17 जुलाई 1734 को हस्ताक्षर किए उसकी शर्तें निम्नांकित थी[4]—

(i) राजस्थान के सभी शासक धम की शपथ लेकर एक दूसरे की विपत्तियो मे मित्रतापूण सहयोग देंगे तथा एक का अपमान दूसरे का अपमान समझा जाएगा।

(ii) किसी एक शासक के शत्रु को दूसरा शासक किसी भी प्रकार का सहयोग और आश्रय नही देगा।

(iii) मराठो के विरुद्ध वषा ऋतु के पश्चात् काय आरम्भ किया जाएगा तब सभी शासक रामपुरा म एकत्र होगे। यदि कोई शासक किसी कारणवश उपस्थित नही हो सकेगा तो अपने राजकुमार को भिजवा देगा।

(iv) यदि राजकुमार अनुभवहीनतावश कोई गलती कर तो महाराणा द्वारा ही उसे ठीक किया जाएगा।

(v) यदि कोई नई कायवाही शुरू की जाए तो सभी शासक एकत्रित हो उसम सहयोग देंगे।

इस प्रकार हुरडा सम्मलन खानुआ युद्ध के पश्चात् राजस्थान म प्रथम बार एक सगठन के निमाण का सकल्प था किंतु इस समझौते का निधारित समय पर रामपुरा म एकत्रित होने की शर्त का किसी भी नरेश ने पालन नही किया। समझौता एक कागजी कायवाही बन कर रह गया। इस सम्मलन की असफलता के अग्रांकित कारण इतिहासकारो ने बतलाए हैं—

1 *Dr Mathura Lal Sharma* History of the Jaipur State
2 *Dr K S Gupta* Mewar Maratha Relations
3 डा वी एस भागव राजस्थान का इतिहास p 263
4 डॉ गुप्ता व डॉ ओझा राजस्थान का इतिहास—एक सर्वेक्षण p 211

(i) डा गोपीनाथ शमा के शब्दा मे— उपयुक्त सधि का जो परिणाम होना चाहिए था वह नही हुआ क्योकि राजस्थान के शासका के स्वाथ भिन्न भिन्न थ। कोई भी राजपूत राजा किसी अ य राजपूत राजा का अपना सर्वोपरि मानने के लिए तयार नही था।'[1]

(ii) बी एम दिवाकर का मत है कि— 'प्रतिभा सम्पन्न और क्रियाशील नतृत्व का अभाव हुरडा सम्मलन की असफलता का एक अ य प्रमुख कारण था। महाराणा जगतसिह म सगठित राजस्थान का नतृत्व करने की क्षमता नही थी।'[2]

(iii) 'जयपुर की सामाजिक प्रतिष्ठा कुछ कम थी साथ ही अ य राजपूत शासक भी जयसिह को सदेह की दृष्टि स देखत थ। अत जब उस (सवाई जयसिह को) नेतत्व का सम्मान नही मिला ता उसने निणय क्रियाि वत करने म उदासीनता की भावना रखी।[3]

(iv) हुरडा सम्मलन म हुए समझौत म अस्पष्टता यह थी कि कौन कितनी सना लकर रामपुरा म एकत्रित हागा।

(v) डा बी एस भागव के अनुसार सवाई जयसिह व दुजनशाल हाडा ने खान ए दौरा को अकेला छोड दिया जिसने चौथ की एवज म मराठा का मालवा के उपजाऊ प्रदेश दे दिए जिससे मराठा का मालवा होकर राजस्थान म घुसपठ करन का माग मिल गया।

हुरडा सम्मलन के बाद मराठा आक्रमणो के प्रति 1761 तक राजपूत नीति

3 फरवरी 1736 का पेशवा बाजीराव प्रथम न उत्थपुर आकर महाराणा जगतसिह को अपमानजनक सधि करने पर विवश किया और 12 लाख 25 हजार रुपय वार्षिक किश्ता म दना तय किया गया। इसके बाद जब पेशवा अजमेर म जयपुर की ओर बढन लगा तो सवाई जयसिह न 8 मार्च 1736 को किशनगढ के पास बम्बोली स्थान पर उससे भेंट कर उस मुगल सम्राट से मराठा के लिए अधिक रियायतें दिलान का आश्वासन दे विदा किया। डा मथुरालाल शर्मा का मत है कि— सवाई जयसिह मुगल सम्राट के व्यवहार से असतुष्ट था, अतएव उसन स्वय बाजीराव को भेंट करने हतु बुलाया था। इस प्रकार मराठा के आतक को अपने लाभ के लिए सवाई जयसिह न प्रयोग म लिया।[4]

1739 म जब नादिरशाह का भारत पर आक्रमण हुआ तो पेशवा की प्राथना पर महाराणा जगतसिह को अपनी सेना मराठा क अधीन मुगल सम्राट की रक्षाथ भेजनी पडी। 1740 म पेशवा बाजीराव की मृत्यु के बाद उसका पुत्र बालाजी बाजीराव पेशवा बना तो वह आगरे की ओर सस य बढा। आगरे का

1 पूर्वोद्धत p 393
2-3 डा एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास, p 212
4 *Dr Mathura Lal Sharma* History of the Jaipur State

इस समय सूबेदार सवाई जयसिंह था जिसने पेशवा से 12 मई 1741 ई को धौलपुर म भेंट की तथा कूटनीति से काम लिया और उसने पेशवा को आश्वासन दिया कि वह मालव का सूबेदार बन कर पेशवा को नायब सूबेदार बना उस चौथ वसूल करने की छूट देगा। डा वी एस भार्गव के अनुसार— उसने मराठो के प्रति रियायत व सुविधाओ की नीति जान बूझकर अपनाई लेकिन इस नीति ने राजस्थान के शेष राजपूत राज्यो को मराठो के लिए दुधारू गाय बना दिया। [1]

जयपुर के उत्तराधिकार से सबद्ध सवाई जयसिंह के पुत्र ईश्वरीसिंह व उदयपुर की रानी से उत्पन्न पुत्र माधोसिंह के मध्य युद्ध हुआ। 1747 मे ईश्वरी सिंह ने माधोसिंह व उसके समर्थक महाराणा और बूदी व कोटा के नरेशो को युद्ध मे पराजित किया। पेशवा ने दोनो भाइयो म समझौता कराना चाहा किंतु ईश्वरीसिंह द्वारा शर्तें न मानने पर पेशवा ने ईश्वरीसिंह को बगरु नामक स्थान पर हराकर माधोसिंह को पाँच परगने (टोक टोडा मालपुरा निवाई व रामपुरा) दिला दिए व बूँदी का राज्य उम्मेदसिंह को दिला दिया। महाराणा जगतसिंह ने मल्हारराव होल्कर को 59 लाख रुपये दने का वायदा कर माधोसिंह को जयपुर का राजा बनाने हतु मराठा आक्रमण करा दिया जिसम पराजित होकर ईश्वरीसिंह ने आत्महत्या कर ली। माधोसिंह जयपुर की गद्दी पर बठा। 1751 म जब महाराणा जगतसिंह की मृत्यु हुई तब मेवाड मराठा का कजदार बन मराठो के हस्तक्षेप का लक्ष्य बन गया।

7 दिसम्बर 1741 को पेशवा को मालवा का उप सूबदार बना दिया किंतु मराठा न मवाड के परगन रामपुरा पर अधिकार कर लिया जिस अहमदशाह अब्दाली द्वारा मराठा के पराजित होने पर ही मवाड पुन हस्तगत कर सका। 5 जून 1751 को राणा जगतसिंह की मृत्यु के बाद हुए उत्तराधिकार के झगड म मराठा ने हस्तक्षेप कर मवाड से धन व कई जिल हथिया लिय। 14 जनवरी 1761 म अहमदशाह अब्दाली द्वारा पानीपत के तासरे युद्ध म मराठा की हार पर टिप्पणी करत हुए डा गुप्ता व डा ओझा का मत है कि— मराठो के निरतर हस्तक्षेप के कारण उनके खिलाफ सम्पूण राजस्थान मे घृणा का वातावरण व्याप्त हो गया था। इसलिए अहमदशाह अब्दाली के विरुद्ध मराठो को राजस्थान से कोई सहायता प्राप्त नही हुई। राजपूत शासक अब्दाली मराठा सघष म तटस्थता की नीति अपनात रहे। सदाशिवराव भाऊ जिसके नेतत्व म मराठा सेनाए अब्दाली के विरुद्ध भेजी गई थी ने भी राजपूत सहयोग प्राप्त करने का बहुत प्रयास किया। इसी उद्देश्य से उसने यहाँ के शासको के पास अपने प्रतिनिधि भेजे किंतु जसा कि राज्यपुरा अभिलेखागार मे रखे पत्रो से स्पष्ट है कि मराठो के प्रति राजपूतो की कोई सहानुभूति नही थी। अत वे उदासीनता की नीति अपनाकर युद्ध के परिणाम की प्रतीक्षा करत रहे। इतना ही नही जयपुर के महाराजा सवाई माधोसिंह ने तो मराठा विरोधी मोर्चा स्थापित करने का प्रयास भी किया। अब्दाली मराठा सघष

1 डॉ वी एस भार्गव राजस्थान का इतिहास p 266

14 जनवरी 1761 ई को पानीपत के मैदान में हुआ जिसमें मराठों की करारी हार हुई और जन धन की अपार क्षति के साथ साथ उनकी प्रतिष्ठा को भी गहरा आघात पहुंचा। राजस्थान में मराठा-पराजय की प्रतिक्रिया प्रसन्नता के रूप में हुई।"[1]

1761 में मराठों के अहमदशाह अब्दाली से पराजित होने के बाद राजस्थान के शासकों का मनोबल बढ़ गया और उन्होंने मराठों को निकाल बाहर करने व उनका देय धन को रोकने के प्रयास किए किन्तु वे निष्फल रहे। डा रघुवीरसिंह के शब्दों में— राजपूत शासकों की आपसी ईर्ष्या में राजस्थान का भार मराठों को सौंप दिया। इसलिए 1761 ई में मराठों ने कोटा, मेवाड़ व जयपुर से कर वसूल करना शुरू किया। 1762-64 ई तक मराठा अधिकांशतः दक्षिण में ही व्यस्त थे। अतः उनका राजस्थान में कोई विशेष हस्तक्षेप नहीं रहा। राजस्थानी शासकों ने भी मराठों की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर उन्हें वार्षिक कर देना बन्द कर दिया किन्तु जैसे ही मराठा दक्षिण से मुक्त हुए तब से पुन राजस्थान में मराठा माँगें सैनिक प्रदर्शन कराके पूरी की जाने लगी।'[2] यह स्थिति राजस्थानी नरेशों द्वारा अंग्रेजों से संधि करने तक चलती रही।

मराठों के आक्रमण के प्रति सवाई जयसिंह की नीति ने राजपूत नीति को प्रभावित किए रखा किन्तु डा वी एस भार्गव का यह कथन उपयुक्त है कि— सवाई जयसिंह अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए मराठों के प्रति सद्भावना और मैत्री का दृष्टिकोण रखता था। उसने मराठों के आतंक का सहारा बनाकर मुगल साम्राज्य को आतंकित रखा। इस तरह अपनी प्रतिष्ठा को जीवन पर्यन्त बनाए रखा। जयसिंह की यह नीति व्यक्तिगत दृष्टिकोण से ठीक हो सकती है परन्तु इस नीति ने समस्त राजस्थान को मराठा आतंक के लिए खुला छोड़ दिया। मराठे राजस्थान में खुले आम घुसपैठ करने लगे। हुरडा का असफल सम्मेलन एक दिखावा मात्र था जिसने मराठा आतंक को समाप्त करने के बजाय बढ़ा दिया।"[3]

---

1 डॉ गुप्ता व डॉ खाना राजस्थान का इतिहास-एक सर्वेक्षण p 225
2 डॉ रघुवीरसिंह पूर्व आधुनिक राजस्थान
3 डॉ वी एस भार्गव राजस्थान का इतिहास पृ 267

9

प्रशासनिक व्यवस्था—राजपूत-वंश आधारित सामन्ती व्यवस्था—वतन जागीरों का सम्प्रत्यय

(Administrative Structure—Nature of Rajput Clan based Feudal Order—Concept of Watan Jagirs)

राजस्थान के इतिहास के अध्ययन काल (1200 से 1761 ई.) के अंतर्गत पूर्व मध्यकालीन प्रशासनिक व्यवस्था में मुस्लिम शासन के अनुकरण एवं प्रभाव के फलस्वरूप उल्लेखनीय परिवर्तन हुए। अध्ययन काल में राजस्थान में प्रचलित प्रशासनिक व्यवस्था विभिन्न राज्यों में कुछ भिन्नताएं होते हुए भी उनमें कुछ समानताएं थीं जो तत्कालीन प्रशासन का आधार बनी। इन भिन्नताओं के साथ समानताओं के आधार पर इस प्रशासनिक व्यवस्था के स्वरूप की व्याख्या की जानी आवश्यक है। इसके साथ ही राजपूत वंश आधारित सामंती व्यवस्था व वतन तथा जागीर के सम्प्रत्यय को समझना भी तत्कालीन प्रशासनिक व्यवस्था को स्पष्ट करने में सहायक हो सकेगा क्योंकि सामंती व्यवस्था ही इस प्रशासनिक व्यवस्था का आधार थी।

अध्ययन काल की प्रशासनिक व्यवस्था
(Administrative Structure of the Period of Study)

प्रशासनिक व्यवस्था को तत्कालीन संदर्भ एवं परिप्रेक्ष्य में निम्नांकित शीर्षकों के अंतर्गत समझा जा सकता है—

राजा एवं राजत्व का आदर्श
(King and the Ideal of Kingship)

डा. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार— मध्ययुगीन राजस्थान के नरेश, छोटी से छोटी इकाई के राजा होते हुए भी अपने आपको प्रभुता सम्पन्न शासक मानते थे। इसी भावना से प्रेरित होकर वे अपने लिए महाराजाधिराज, राजराजेश्वर, नरेन्द्र

आदि विरुद धारण करते थे। उनके आश्रित कवि या लेखक इन्हें इसी प्रकार के विरुद से सम्बोधित करते थे। कम से कम इनके सामन्त इन्हें पूर्ण प्रभुता सम्पन्न ही मानते थे। इनमें अपने वंश गौरव का बड़ा भान था। कोई राजवंश यदि अपने आपको राम का वंशज मानते थे तो कोई अपने को कृष्ण का। सूर्यवंशी या चन्द्रवंशी सूत्रों में अपनी गणना करना एक प्रकार से श्रेष्ठता का दावा करना था। इस प्रकार की प्रधानता के साथ-साथ सशक्त शासक दिग्विजय की महत्त्वाकांक्षा रखना अपने जीवन का एक लक्ष्य मानते थे। जब मुगलों की शक्ति बढ़ गई तो दिग्विजय की स्मृति में टीका दौड़ की परम्परा बनी। वर्षा ऋतु की समाप्ति पर बहुधा शासक अपने राज्य की सीमा के बाहर शिकार के लिए निकल पड़ते थे और अपनी प्रभुता के आदर का सम्मान करते थे। म्लेच्छों से मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने या उनसे पराजित होने की स्थिति में भी राजस्थानी नरेश विदेशी शत्रुओं से युद्ध करना अपना धर्म समझते थे। "तीर्थ स्थानों को म्लेच्छों से मुक्ति दिलाना वे अपना कर्त्तव्य समझते थे।'[1] इस कथन की सत्यता मध्यकालीन राजस्थान के इतिहास में प्रमाणित होती है। ख्यातों, प्रशस्तियों व अन्य कवियों की रचनाओं में राजाओं की उपरोक्त उपाधियों व विरुदों के अतिरिक्त 'ओजी श्रीहुजूर', देव, 'अन्नदाता' आदि नामों से सम्बोधित होना राजाओं की प्रभुता सम्पन्नता के सूचक हैं। हम्मीर महाराणा राजसिंह सवाई जयसिंह आदि शासकों द्वारा दिग्विजय की सूचक टीका दौड़ व उनके द्वारा सम्पन्न अश्वमेध आदि यज्ञ प्राचीन चक्रवर्ती नरेश होने के परिचायक थे। मुस्लिम आक्रमणकारियों के विरुद्ध केसरिया बाना पहन कर वीरगति प्राप्त होने तक युद्ध करने व राजपूत रमणियों द्वारा सतीत्व की रक्षार्थ 'जौहर' करने के उदाहरण चित्तौड़ के तीन शाके हैं। राणा राजसिंह द्वारा औरंगजेब से अनेक मंदिरों व मूर्तियों की रक्षा करना क्षात्र धर्म के अनुपम उदाहरण थे।

राजा शक्ति व शौर्य का प्रतीक बन ईश्वर के प्रतिनिधि होने में अपना गौरव समझते थे। डा शिवचरण मनारिया के शब्दों में— महाराणाओं को अपने वंश अपनी जाति, अपने धर्म और अपनी धरती के प्राचीन गौरव पर अभिमान था। अपने को ईश्वर का सर्वोच्च प्रतिनिधि सिद्ध करने के लिए उसने एकलिंगजी (शिव) को राज्य का सर्वोपरि शासक और स्वयं को उसका दीवान घोषित किया। महाराणा द्वारा प्रसारित आदेशों पर 'दीवान जी आदेशात्' (दीवान जी यानी महाराणा के आदेशानुसार) शब्द अंकित किया जाता था।[2]

राज्य के स्वरूप की अग्रांकित तीन विशेषताओं का उल्लेख बी एम दिवाकर ने किया है[3]—

1 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास पृ 622–23
2 डॉ शिवचरण मेनारिया उत्तर मुगलकालीन मेवाड़, p 166
3 बी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास पृ 310–11

(i) "राजस्थान में राजा को ईश्वर तुल्य माना जाता रहा है। वे अपने आपको प्रभुता सम्पन्न राजा समझते थे। स्पष्ट है कि राजपूत राज्य का आधार दैविक सिद्धान्तों पर आधारित था।

(ii) राजा अपने नाम के साथ बड़ी बड़ी उपाधियों से सुशोभित करते थे। इन उपाधियों से स्पष्ट है कि राजा को पृथ्वी पर ईश्वर सम्पन्न माना जाता था।"

(iii) 'तीसरी विशेषता राज्य की यह थी कि प्रजा सामान्यतः राजा की समालोचना नहीं कर सकती थी और न ही राजाओं के कार्यों को बुरा बता सकती थी। प्रजा राजा को ईश्वरी दूत मानती थी और उसका कार्य ईश्वर का आदेश माना जाता था।

राजाओं का पद, अधिकार एवं कर्त्तव्य

राजा का पद पैतृक होता था किन्तु राजा को अपने जीवनकाल में अपना उत्तराधिकारी की घोषणा करने का अधिकार था। कभी कभी वे ज्येष्ठ पुत्र के स्थान पर कनिष्ठ पुत्र को भी उत्तराधिकारी नियुक्त कर देते थे जैसे राणा उदयसिंह ने प्रताप के स्थान पर छोटे पुत्र जगमाल को तथा मारवाड़ नरेश गजसिंह ने अमरसिंह के स्थान पर जसवंतसिंह को उत्तराधिकारी घोषित किया किन्तु ऐसी स्थिति में राज्य हित की दृष्टि से सामन्त हस्तक्षेप भी करते थे जैसे मेवाड़ में जगमाल को हटाकर प्रताप को महाराणा पद पर पदासीन किया था। प्रायः ज्येष्ठ पुत्र को ही उत्तराधिकारी मानने की प्रथा प्रचलित थी।

राजस्थान के शासक अपने राज्य के सर्वेसर्वा थे। राज्य का शासन न्याय वितरण उच्च पदों पर नियुक्ति दण्ड सेना संचालन संधि आदेश आदि के सूत्र का सम्पूर्ण आधार इनके व्यक्तित्व में निहित था। धर्म की रक्षा करने और प्रजा के पालन का उत्तरदायित्व उनके कन्धों पर था।[1] सर्वाधिकार सम्पन्न होने के कारण ही उनकी रानियों का भी उचित सम्मान होता था तथा वे विशेष परिस्थितियों में शासन कार्य करती थीं व युद्ध के समय क्षत्राणी धर्म का पालन करती थीं। बी एम दिवाकर का कथन है कि— राजा अनेक विवाह करते थे और इन रानियों का भी राज्य कार्य में बड़ा योगदान रहता था। सामान्यतः युवराज की आयु कम होने पर रानियाँ राज्य कार्य अपने हाथ में ले लेती थीं। इस क्षेत्र में भटियानी रानी और हाड़ीबाई का नाम उल्लेखनीय है। कठिनाई के समय ये रानियाँ रण कौशल भी दिखाती थीं। रानी पद्मिनी ने अपने साहस का परिचय देकर राणा रत्नसिंह को अलाउद्दीन की कैद से मुक्त कर दिखाया था और जब राजपूत वीर युद्ध में पराजित होकर लड़ते लड़ते मारे जाते तो ये रानियाँ बिना किसी भय के हँसते हँसते जलती अग्नि में कूद कर अपने स्नेह और शौर्य का परिचय देती सती हो जाती थीं। स्पष्ट है कि रानियाँ भी राजा की भाँति वीर और त्यागी होती थीं।[2]

1 डा. गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास, p 623

2 पूर्वोद्धृत पृ 313

राजाओं के कर्त्तव्यों में प्रजा पालन धर्म की रक्षा तथा राज्य की चहुँमुखी उन्नति करना था। राज्य में अकाल महामारी युद्ध आदि के समय राजा प्रजा की हर सम्भव सहायता करते थे व प्रजा हितकारी कार्यों से प्रजा पालक होने का कर्त्तव्य निभाते थे। धर्म रक्षक होने का प्रमाण औरंगजेब जैसे धर्मान्ध सम्राटों के समय हिंदुओं पर 'जजिया' कर लगाने व मंदिरों व मूर्तियों को नष्ट करने का तीव्र विरोध राणा राजसिंह जैसे नरेशों ने किया व उनकी रक्षा की। स्वधर्म का निष्ठा से पालन करते हुए भी राजस्थानी नरेश धर्म सहिष्णुता का परिचय देते थे। वे अन्य धर्मावलम्बियों को उच्च पद देते थे तथा उन्हें अनुदान दिया करते थे। उदाहरणार्थ मेवाड़ के दीवान जैन होते थे पृथ्वीराज, मालदेव राजसिंह रायसिंह आदि नरेशों ने जैन मंदिरों का निर्माण कराया, अजमेर की दरगाह को अनेक गाँव जागीर में राजपूत नरेशों ने दिए महाराणा प्रताप की सेना में हकीम सूर अफगान सेनानायक था, दुर्गादास ने शाहजादा अकबर एवं उसके पुत्र व पुत्रियों को अपनी शरण में रखकर उन्हें ससम्मान औरंगजेब को सौंप दिया था। ये राजपूत नरेशों की धर्म सहिष्णुता के ज्वलंत प्रमाण हैं। राज्य की चहुँमुखी उन्नति करने सम्बन्धी अपने कर्त्तव्य के पालन में राजपूत नरेशों ने साहित्य व कला की प्रगति करने व विद्वानों व कवियों को आश्रय देने सम्बन्धी कार्यों से योगदान दिया।

राजस्थान के नरेशों के उपरोक्त अधिकारों व कर्त्तव्यों से यह स्पष्ट है कि वे स्वच्छंद व स्वेच्छाचारी शासक न थे। अनेक साक्ष्यों के आधार पर अध्ययन-कालीन राजस्थान के शासकों के अधिकारों की सीमाओं का उल्लेख करते हुए डा गोपीनाथ शर्मा का मत है कि— जब उनके शासन में कोई खराबी दीख पड़ती तो सामंतगण राज्य के मध्यम श्रेणी के वर्ग तथा पंचायतें उनके अधिकार के क्षेत्र में हस्तक्षेप कर सकते थे और उन्हें उचित व्यवस्था के लिए बाध्य कर सकते थे।'[1]

मंत्रि परिषद्

पूर्व मध्यकालीन राजस्थान के राज्यों में प्राचीन मौर्य कालीन हिंदू शासन प्रणाली का ही रूप प्रचलित था किंतु मुगलों के प्रभाव से मध्यकालीन राजस्थान की शासन प्रणाली में अनेक परिवर्तन हुए। बी एम दिवाकर का यह कथन उपयुक्त है कि— भारत के मुसलमानों के प्रभाव और अकबर के समय से मुगलों के साथ राजपूतों के मेलजोल के कारण जयपुर कोटा, बीकानेर आदि के शासक तो मुगल दरबार में ही रहने लग गए थे और मुगल शासन व्यवस्था के निकट सम्पर्क में आए थे, अतः मध्यकालीन राजस्थान पर मुगल शासन व्यवस्था का सीधा और गहरा प्रभाव है। कई राजपूत शासक तो सूबेदार बनकर बर्मा तक अपने राज्यों से दूर दक्षिण या पश्चिम सीमा पर रहते थे। ऐसी दशा में उनके राज्य का पूर्ण संचालन ही मन्त्री या मंत्रिमण्डल द्वारा होता था। समय और आवश्यकता के

1 पूर्वोद्धृत पृ 626

अनुसार मुगल प्रभाव म आकर राजपूत राजाग्रा न मंत्रिमण्डल के महत्त्व को कम कर दिया और मन्त्रियो के स्थान पर केन्द्रीय अफसरो या विभागाध्यक्षो के पद धीरे धीरे मन्त्रिमण्डल से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो गये।'[1] अत अध्ययन काल मे कतिपय भिन्नताओ के साथ प्राय सभी राज्यो म निम्नांकित केन्द्रीय अधिकारी थे—

(1) प्रधान—राजा के बाद प्रधान राज्य का सर्वोच्च अधिकारी होता था। डॉ शिवचरण मेनारिया के अनुसार— वह नागरिक वित्तीय, न्यायिक और सैनिक सभी अधिकारो स सम्पन्न होता था। विस्तृत अधिकारो के साथ साथ उसकी जिम्मेदारियाँ भी अधिक थी। एक सफल प्रधान के लिए आवश्यक था कि वह शासन के विभिन्न तन्त्रो सभासदो एव सामन्तो का पूर्णत विश्वस्त बना रहे।[2] मेवाड मे राणा रायमल के समय प्रधान पचोली हिम्मत सांगा के समय गिरधर पचोली उदयसिंह के समय शाह आशा प्रताप के समय भामाशाह आदि थे। जोधपुर म प्रधान पद बडे सामन्तो मे से (आउवा आसोपा, पोखरन आदि के सामन्तो मे से) किसी एक को दिया जाता था। डा शर्मा के अनुसार— भूमि के अनुदानो पर प्रधान के हस्ताक्षर होना आवश्यक था। उत्सव या सवारी के अवसर पर प्रधान शासक के ठीक पीछे बैठता था। एक अच्छे प्रधान के लिए एक अच्छा शासक और चतुर दरबारी होना आवश्यक था।'[3]

(2) दीवान—डा शर्मा का कथन है कि— कही प्रधान की अवस्था म और कही प्रधान के न रहते हुए राज्यो का सर्वोच्च अधिकारी दीवान होता था जो मुख्य रूप स अर्थ विभाग का अध्यक्ष होता था। जहाँ प्रधान नही होते थ दीवान प्रधान का काय भी करत थ। इस पदाधिकारी के कार्यों म मुख्य रूप स आर्थिक काय कोष और कर सग्रह के काय थ। इनक नीचे कई कारखाने जात के दरोगा रोकडिया मुशी, पोतदार आदि होत थ। प्रत्येक विभाग के सभी कार्यों के विवरण इसके पास आते थ। इनसे सम्बन्धी सभी पत्रो को वह आदेशार्थ शासक के सम्मुख रखता था और उसके आदेशानुसार उनके उत्तर भेजता था। राज्य की नियुक्तियाँ पदोन्नति स्थानान्तर आदि सम्बन्धी निर्णय उसकी सम्मति के बिना नही लिए जाते थे। उसकी स्वतन्त्र मुहर होती थी जिस पर उसका नाम खुदा जाता था।[4]

(3) बख्शी—डा शिवचरण मेनारिया के अनुसार—'प्रधान के बाद दूसरा मुख्य अधिकारी बख्शी होता था। वह राज्य की सशस्त्र सेनाओ के वेतन भुगतान का लेखा जोखा रखता था और उस स्वीकृति देता था। वह हाजिरी भी रखता था। युद्ध के समय घायलो की देखभाल रखने की जिम्मेदारी बख्शी की होती थी।[5] डा शर्मा ने बख्शी के कुछ अन्य काय बतलाते हुए कहा है कि—

1 बी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास, पृ 316
2 पूर्वोद्धृत, p 167
3-4 पूर्वोद्धृत p 626-29
5 डॉ शिवचरण मेनारिया उत्तर मुगलकालीन मेवाड, पृ 168

"राजा का विश्वासपात्र होने से सभी गुप्त मन्त्रणा मे वह सम्मिलित होकर शासन कार्य म प्रभूत सहायता पहुचाता था। सम्भवत सनिक अध्यक्ष होने से उस पशु चिकित्सा म भी विशेषज्ञ होना पडता था। उसके निकट सहायक अधिकारी नायब-बख्शी कहलाते थे। खबर नवीस और किलेदार भी इसके अधीन होते थ। इसे कही फौज बख्शी भी कहते थे।"[1]

(4) मुत्सद्दी—मुत्सद्दी युद्ध के समय सेना की व्यवस्था देखने वाला अधिकारी था जो सेना के सभी अगो का नतृत्व करता था। इस पद पर राजपूत सामन्त वग स ही किसी की नियुक्ति की जाती थी।

(5) खानसामा—खानसामा दीवान के अधीन ता था कि तु राज परिवार के निकट सम्पक के कारण वह सवाधिक प्रभावशाली होता था। उसके कार्य निमाण कार्य, वस्तुओ का क्रय, राजकीय विभागा के सामान की खरीद और सग्रह राज्य क सभा कारखानो का परिवीक्षण आदि थे। उत्सव राजा के ज म दिन राज्याभिषेक आदि के अवसरो पर प्राप्त उपहारा का सग्रह व राजमहल की वस्तुओ का क्रय करना भी उसके जिम्मे था। मेवाड म इस पद को कोठारी के नाम से जाना जाता था।

(6) कोतवाल— राजधानी की सावजनिक सुरक्षा का उत्तरदायित्व कोतवाल पर होता था। नगर मे शाति और सुरक्षा बनाए रखना इसका मुख्य कर्त्तव्य था। चोर डाकुओ को दण्ड देना, वस्तुओ का मूल्य निधारित करना तोल माप के पमानो की जाँच करना और पुलिस व्यवस्था (चौकीदारी) की देखभाल करना इसके कार्य थे। कस्बे की पचायत का यह प्रधान होता था। पुलिस विभाग द्वारा चोरा और अपराधो का रोकन क लिए रात को बराबर गश्त होती रहती थी।"

(7) खजाँची— मेवाड म इस कोषपति' कहते थे। यह एक इमानदार और प्रतिष्ठित व्यक्ति होता था जो राज्य की आमदनी और खच का पूरा पूरा हिसाब रखता था। यह व्यक्ति पक्षपात रहित और पूव धारणाओ स मुक्त होता था। राजा को समय समय पर बढते हुए खच और घटती आमदनी स अवगत कराते रहना इसका काम था। एक अच्छे खजाँची से यह आशा की जाती थी कि वह प्रतिदिन की आमदनी और खर्चे म से थोडा बहुत धन बचाकर धीरे धीरे सचय करता रहेगा। और इस प्रकार बचाया हुआ धन आपत्ति, अकाल और लगान वसूल न हो सकने की सूरत मे राज्य के खर्चे के लिए उपलब्ध करेगा।"[3] ऐसे बचाए हुए धन को 'निधि और 'दुग कहत थे जो केवल राज्य के आपत्ति काल म ही प्रयुक्त होता था।

1 पूर्वोद्धृत, p 629
2 डॉ शिवचरण मनारिया उत्तर मुगलकालीन मेवाड p 168
3 बी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास, पृ 318

(8) किलेदार—राज्य मे दुर्गो (किला) की रक्षा का भार 'किलदार नामक अधिकारी का होता है। किलेदार योग्य व विश्वासपात्र व्यक्ति ही होता था क्योकि किल के गुप्त गृहो मे खजाना छिपा कर रखा जाता था।

परगना-शासन

मेवाड मे परगना शासन के सम्ब ध म डा शिवचरण मेनारिया का कथन है कि— राज्य का शासन दो भागो मे विभक्त था—(1) खालसा तथा (2) जागीर प्रशासन। राज्य का जो भाग सीध महाराणा के अधीन था वह खालसा तथा जो भाग जागीरदारो के अधीन था वह जागीर प्रशासन कहलाता था। जागीर प्रशासन की देखभाल सामन्तगण अपने अपने क्षेत्र म राज्य के प्रचलित नियमो एव परम्पराओं के अनुसार करत थ। खालसा प्रशासन की देखभाल महाराणा स्वय अपने अधीनस्थ कमचारियो द्वारा करता था। सम्पूर्ण राज्य कई परगना म विभक्त था। परगनो का प्रशासन फौजदार कामदार (हाकिम) आदि चलाते थे।[1] प्राय यही व्यवस्था राजस्थान के सभी रजवाडो मे थी। मारवाड म शरशाह के प्रभाव के फलस्वरूप राज्य का विभाजन शिको मे किया गया किंतु अकबर ने शिको को परगना के रूप म परिवर्तित कर दिया। परगना म निम्नांकित प्रमुख अधिकारी होते थे—

(1) फौजदार—यह सेना का अधिकारी होता था जो परगने की सुरक्षा एव स्थानीय सेना की तयारी करता था। वह अमीन अमलगुजार आदि राजस्व अधिकारियो का सहयोग देता था। इसका मुख्य काय चोर लुटेरो तथा डाकुओ का पता लगाकर उन्हें दण्ड देना था जो आधुनिक पुलिस के काय है।

(11) हाकिम (कामदार)—हाकिम या कामदार परगन म सर्वोच्च नागरिक अधिकारी होता था जिसे प्रशासनिक एव यायिक दोनो अधिकार प्राप्त थ। इसकी नियुक्ति स्वय राजा करता था। सनिक व पुलिस कार्यो म वह फौजदार का सहयोग लेता था। हाकिम की सहायताथ अनेक परगना अधिकारी होत थ जस कोतवाल अमीन कानूनगो दाणी, दरोगा ए सायर पटवारी शाहना आदि। डा गोपीनाथ शर्मा के श ा मे— कही कही बडे परगने म एक ओहददार भी होता था जो हाकिम को शासन मे सहायता पहुँचाता था। इन अधिकारियो के सहयोगी शिकदार कानूनगा खजाची शहन आदि होते थ जो वतनिक तथा फसली अनाज के एवज म राजकीय सेवा करते थे। परगनों के अधिकारी समय समय पर अपने अधिकार क्षेत्र का दौरा भी कर लिया करते थे जिसस नीचे के सेवको के काम का निरीक्षण भी हो जाया करता था और ग्रामवासियो की असुविधाए या फरियादें दूर की जा सकती थी या सुनी जा सकती थी।[2]

1 डॉ शिवचरण मेनारिया उत्तर मुगलकालीन मेवाड पृ 170
2 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास, p 631

राज्य का परगनो पर नियन्त्रण परगना अधिकारियो का समय-समय पर स्थाना तरण कर तथा राजा द्वारा स्वय परगना के दौरे द्वारा रखा जाता था। गुप्तचर भी परगना की गोपनीय सूचना राजा को देते रहते थे। जनता पर अत्याचार की शिकायत होने पर दोषी अधिकारी को दण्डित किया जाता था।

ग्राम प्रशासन

प्रशासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम थी। पूव मध्यकाल में ग्राम का अधिकारी 'ग्रामिक' किंतु परवर्ती काल मे वह 'पटवारी' नाम से जाना जाता था। पटवारी अपने पट्टे के अधिकार के कारण ग्राम का सर्वोच्च अधिकारी था। पट्टा उस अधिकार-पत्र को कहते हैं जिसके द्वारा पटवारी लगान के आकलन व वसूली का अधिकार प्राप्त करता था। पटवारी की सहायतार्थ और भी अधिकारी या कमचारी थे जैसे तफेदार सेहना कनवारी तलवाटी और चौकीदार। तफेदार लगान का लेखा जोखा रखने वाला सेहना या शहनाह प्रबन्धक का कार्य कनवारी खेत का रक्षक तलवाटी उपज को तोलने का कार्य व चौकीदार ग्राम की रखवाली करता था।

ग्राम के स्थानीय प्रशासन हेतु ग्राम पचायत होती थी जिसमे ग्राम के मुखिया व सयाने लोग होते थे। ये लोग मिलकर ग्राम झगडे निपटाना धार्मिक और सामाजिक विषय पर विचार करना आदि कार्य सम्पादन करते थे। जाति पचायतें भी ऐसे मामलो मे या जाति सम्बन्धी समस्याओ को निपटाने मे अपना सहयोग देती थी।'[1]

भूमि-प्रबन्ध

राज्यो मे भूमि प्रबन्ध मे कुछ भिन्नता होते हुए भी प्राय भूमि छ भागो मे विभक्त थी—

"(1) खालसा भूमि वह भू भाग था जो राजा की निजी सम्पत्ति गिनी जाती थी और लगान वसूली के लिए केन्द्रीय दीवान के निजी प्रबन्ध के अधीन थी। (2) हवाला भूमि का वह भाग था जिसकी देखभाल के लिए हवलदार रखे जाते थे। यह भूमि साधारणत परगनो के अधीन होती थी। (3) जागीर भूमि का वह भाग जिसे राजा सामन्तो को उनकी सेवाओ के बदले जागीर मे देता था। जागीरदार स्वय इस भूमि के किसानों से लगान वसूल करता था किंतु जागीर मे निर्धारित रकम प्रतिवर्ष राज्य के खजाने मे जमा करा देता था। (4) भूमि का चौथा भाग भोम था। राज्य की कई तरह से सेवा करने वाले भोमियो को भी जमीन दी जाती थी। इन भोमियो से कोई कर नही लिया जाता था और इनसे जमीन भी नही छीनी जाती थी। (5) भूमि का पाँचवाँ भाग शासन का था। यह भाग राज्य के अधीन था और इसकी व्यवस्था, पटवारी, पचायत आदि के

1 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास p 631

माध्यम से होती थी। (6) इन पाँचों भागों के अतिरिक्त दान में दी हुई भूमि थी जो राजा कवियों, ब्राह्मणों, चारणों, मठों और मन्दिरों को देता था। इस भूमि से भी कोई कर नहीं लिया जाता था। केवल खालसा, हवाला, जागीर और शासक की भूमि से आमदनी थी।[1]

उपज का ⅙ भाग राजकीय भाग या लगान के रूप में वसूल किया जाता था। लगान वसूली के प्रकारों का विवरण देते हुए डा. मेनारिया का कथन है कि—राजकीय आय का प्रमुख स्रोत लगान (भूमिकर) था। लगान तय करने के लिए दो तरीके काम में लाए जाते थे—

(1) बटाई—अनाज के भाग तय करना (उत्पादित माल का)

(2) कणकूती—खड़ी फसल से उत्पादन का अनुमान लगाकर तय करना।

नकद लिया जाने वाला लगान हासिल और अनाज के रूप में लिया जाने वाला लगान 'भोग' कहलाता था। भोग लटाई के उपरान्त लिया जाता था। *लटाई के समय गाँव का मुखिया, खेत का मालिक और राजकीय अधिकारी* उपस्थित होते थे। विभिन्न गाँवों में लगान के साथ तरह तरह की लागतें भी वसूल की जाती थीं। जागीरदार लोग अपनी अपनी जागीरों में तरह तरह की लागतें वसूल करते थे।[2]

कर प्रणाली

सैनिक व सार्वजनिक व्यय की पूर्ति हेतु राज्य द्वारा निम्नांकित प्रकार के कर लगाए जाते थे जिनमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन होते रहते थे—

(i) भूमि कर—अर्थात् लगान जिसके साथ कई 'लागतें' भी वसूल की जाती थीं जैसे हल कर, घास आदि।

(ii) बिक्री कर—बाजार में विक्रय के लिए वस्तुओं पर यह कर स्थानीय व विदेशी व्यापारियों से विभिन्न रूप में लिया जाता था। हाटों पर हाट कर लिया जाता था।

(iii) दाण—यह कर वस्तुओं के आयात निर्यात पर लगाया जाता था जिसे 'राहगीरी' भी कहा जाता था।

(iv) उत्पादन कर—इस कर की उगाही में भिन्नता होती थी। चुंगी, दुकान लागत, खाल लाख, चूड़ी, कलाली, कुम्हारी, घाणी आदि व्यवसाइयों व दस्तकारों से पट्टा के रूप में उत्पादन कर लगता था।

इसके अतिरिक्त नजराना, युद्ध कर, जागीर से आय, दण्ड का धन, खनिज कर आदि भी वसूले जाते थे।

1 बी. एम. दिवाकर : राजस्थान का इतिहास, p. 320-21

2 डॉ. शिवचरण मेनारिया : उत्तर मुगलकालीन मेवाड़, p. 176-77

न्याय व दण्ड व्यवस्था

डा मनारिया के शब्दो म—" न्याय व्यवस्था सरल किन्तु प्रभावशाली थी। राजा स्वय न्याय का स्रोत था, पर तु स्वेच्छाचारिता से काम नही लेता था। गाँवो म ग्राम पचायतें न्याय करती थी। परगना के हाकिम अपने क्षेत्र की न्याय व्यवस्था की देखभाल करत थ। राज्य की न्याय व्यवस्था का मुख्य आधार हिन्दुओ क धम शास्त्र होत थ। शिरच्छेद अगच्छेद देश निर्वासन कद जुर्माना आदि ग्राम सजाए थी। कानून व व्यवस्था काफी सहज थी। लाग दश के कानूनो का सम्मान करत थ।'[1]

सन्य-व्यवस्था

स न्य व्यवस्था म मुगला क सम्पक म काफी परिवतन हो गए थे। डा गोपीनाथ शर्मा के अनुसार— जब राजस्थानी नरश मुगला की सेवा म रहन लग तो यहाँ सैनिक व्यवस्था म एक परिवतन आया। मुगला की भाँति व ऐस अस्त्र शस्त्रो का प्रयोग करने लगे जो वार म शीघ्रगामी होत ये और उपयोग करने मे हल्के और अधिक पने होत थ। बारूद तोपें, व दूकें छोटी तलवारें और हल्की ढालो तथा बछियो का प्रयोग राजस्थान म होने लगा। पदाधिकारी सनिक मगला की भाति लम्बे कोट पाजामा लोहे के टोप और अगरक्षक साधना को काम म लाने लगे पदलो की अपक्षा घुडसवारो का प्रयोग मुगलो की भाँति अधिक हो गया। सम्पूण सेना का नतत्व वसे तो राजा स्वय करते थे, पर तु अलग अलग सनिक विभागो की व्यवस्था की देखरख के लिए जुदे जुदे अधिकारी होत थे जिनको पदल पति, गजपति अश्वपति आदि कहत थे। मुगलो के प्रभाव स कई राज्या म सनिका और सनिक पदाधिकारिया को दारोगा ए फीलखाना दारोगा ए तोपखाना शमशेरबाज बन्दूकची किलदार आदि कहन लगे। घाडो को दागने की प्रथा भी चल गई थी।" इस प्रकार सनिका की वश भूषा अग्नेयास्त्रो का प्रयोग घुडसवार सनिका की प्रमुखता जिरह बख्तर (कवच) आदि परिवतन मुगल प्रभाव के सूचक थे।

आक्रमणा स सुरक्षा हेतु दुर्गों का विशेष महत्त्व रहा जिसम युद्ध काल के समय पर्याप्त रसद रखकर घरे का प्रतिरोध किया जाता था किन्तु रसद समाप्त होने पर पुरुष केसरिया बाना धारण कर दुग के फाटक खाल मर मिटत थे तथा स्त्रियाँ जौहर कर अपने सतीत्व की रक्षा करती थी। इसक अतिरिक्त पवतीय इलाक के राज्यो मे प्रतिरक्षा हेतु छापामार युद्ध नीति अपनाई जाती थी। मुगला स सघष म मेवाड मे यही नीति सफल सिद्ध हुई थी।

राजपूत वश आधारित सामन्ती व्यवस्था की प्रकृति
(Nature of Rajput Clan based Feudal Order)

राजपूत राजाओं को उनके दवी अधिकार एव प्रजा की दृष्टि म उन्ह ईश्वर

1 पूर्वोद्धत, p 180
2 पूर्वोद्धत p 637–38

का अवतार या प्रतिनिधि मानने का आधार इन राजाओं के विभिन्न राजपूत-वंश— जैसे गहलोत कछवाहा राठौर, चौहान भाटी आदि थे जो भगवान राम या कृष्ण से अपना पैतृक सम्बन्ध जोड़ते थे अथवा चन्द्रवंशी सूर्य वंशी या अग्निवंशी होने का गौरव प्राप्त थे। जिस प्रकार राजस्थान के विभिन्न राज्य किसी न किसी ऐसी दैवी उत्पत्ति के राजवंश के शासक के अधीन थे जो अपनी सुरक्षा एवं सहायता हेतु अपने राज्य में अपने ही वंश के सामन्तों को जागीर देकर उनका सम्मान करते थे। जिस प्रकार राजस्थान का प्रत्येक शासक अपने राजवंश का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि माना जाता था उसी भाँति उसके निकट सम्बन्धी सामन्त भी प्रतिष्ठित व सम्माननीय माने जाते थे। राजा ने उन्हें विशेष अधिकार दिए थे। ये सामन्त प्रशासन व युद्ध में अपना योगदान कर राजा की सेवा करते थे। इस प्रकार राजस्थान में सामन्ती व्यवस्था की प्रकृति राजपूत वंश आधारित थी।

जगदीशसिंह गहलोत ने सामन्ती व्यवस्था अथवा जागीर-व्यवस्था या प्रणाली की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करते हुए कहा है कि *जागीर प्रथा का उस समय प्रादुर्भाव हुआ जब राजा को जन सैनिक व प्रजा के रूप में अधिकाधिक सहायता की आवश्यकता हुई*। राजा ने अपने सम्बन्धियों को आजीविका हेतु भूमि (जागीर) दी जो आवश्यकता के समय सशस्त्र सैनिकों के साथ उसकी सहायता कर सकें। जागीरदार अपने गाँवों व भूमि की देखभाल करते थे और प्रशासन में भाग लेते थे। इस प्रकार गाँव के निवासी द्विशासन (राजा एवं जागीरदार के शासन) के अधीन दुखी थे। राजा की पराजय या विजय पर उनका भविष्य निर्भर रहता था। मध्यकाल में मुगल राज्य के अन्तर्गत जागीरदारी प्रथा की आशातीत वृद्धि हुई। राजाओं को सम्राट की सहायता हेतु ये जागीरदार ही अस्त्र शस्त्र एवं सैनिक उपलब्ध कराते थे। इसके अतिरिक्त ये जागीरदार राजा की आय एवं राजस्व के प्रमुख स्रोत थे। वे राजा को धन के रूप में हुकुमनामा रेख खर्चबही मातमी मतालबा आदि नामों से भेंट या नजराना देते थे। किन्तु जागीरदारी प्रथा के कुछ दोष भी थे। जागीर के उत्तराधिकारी के अभाव में अथवा जघन्य अपराध या राजद्रोह करने के दण्डस्वरूप राजा उनकी जागीर या भूमि को खालसा कर लेता था। दुर्बल राजाओं के समय वे बाह्य (जैसे मराठा) आक्रमणों के समय वे स्वतन्त्र शासक के रूप में व्यवहार कर राजा के विरुद्ध भी हो जाते थे। ये राजा से भी अधिक अपने अधीन प्रजा पर अत्याचार करते थे।[1]

कर्नल टाड ने सामन्ती व्यवस्था के राजपूत वंश आधारित होने के सन्दर्भ में कहा है कि स्थानीय शासन व्यवस्था का आधार यहाँ की जागीरदारी प्रथा थी। राज्य की प्रतिष्ठित सामन्त व्यवस्था मुगलों के विभिन्न आक्रमणों के उपरान्त भी सजीव और शक्तिशाली बनी रही। यहाँ के प्रचलित सामाजिक नियमों के अनुसार विशुद्ध रूप से राजपूत कुलोत्पन्न व्यक्ति ही सामन्त होने का अधिकारी था। वंश की

1 *J S Gahlot* Rajasthan Before Second World War p 19–20

श्रेष्ठता को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था।"[1] डा शिवचरण मनारिया के अनुसार प्रशासनिक पदों पर राजपूतों के अतिरिक्त अन्य जाति के लोगों को भी नियुक्त कर लिया जाता था और उन्हें खर्च चलाने हेतु जागीर दी जाती थी। जागीर प्राप्त कर्ता जब तक राजकीय सेवा में रहता, जागीर का उपभोग करता था।[2]

श्यामलदास ने कहा है कि 'महाराणा अमरसिंह प्रथम ने अपने राज्य के सामंतों की जागीर मुगल पद्धति के अनुसार प्रति तीसरे वर्ष बदल देने का नियम प्रचलित किया था। सामंतों के जागीर में व्यवस्थित नहीं हो पाने से वहाँ पर अशांति का वातावरण बना रहता था। अतः महाराणा अमरसिंह द्वितीय ने उक्त नियम को रद्द कर यह निश्चित कर दिया कि जब तक सामंत पूर्ण निष्ठा और जिम्मेदारी के साथ कर्त्तव्य पालन करता रहे और राजकीय आज्ञाओं का विधिवत् पालन करता रहे उसकी जागीर नहीं बदली जाए।[3] इस व्यवस्था को अमरशाही रख भी कहा जाता है। राणा अमरसिंह द्वितीय ने सामंतों की तीन श्रेणियाँ भी निर्धारित की—(1) सोलह उमराव (प्रथम श्रेणी के सामंत) (2) बत्तीस द्वितीय श्रेणी के सामंत, तथा (3) तृतीय श्रेणी के सामंत। जागीरदारों को श्रेणियों में विभक्त करने की प्रथा अन्य राजपूत राज्यों में भी प्रचलित थी।

राजा और सामंतों के मध्य सम्बन्ध मधुर व सम्मानजनक थे। मेवाड़ के सामंतों के संदर्भ में डा मेनारिया का यह कथन उल्लेखनीय है कि महाराणा के दरबार में सामंतों का बड़ा सम्मान था। सामंतगण महाराणा के प्रमुख सलाहकार के रूप में कार्य करते थे। सेना के सेनापति पद पर अधिकांशतः इनकी ही नियुक्ति की जाती थी। सामंत अपनी जागीर की व्यवस्था स्वतंत्र रूप से करते थे किंतु वे वहाँ पर राज्य में प्रचलित शासन प्रणाली का ही अनुसरण करते थे। सभी सामंतों की आय समान नहीं होने के कारण उनकी सैनिक शक्ति भी समान नहीं होती थी।

सामंतों को वर्ष में कम से कम तीन माह तक राजधानी में रहकर अपनी सेवाएँ देनी होती थी।

किसी सामंत की मृत्यु हो जाने पर उसकी जागीर खालसा कर ली जाती थी तदुपरांत महाराणा उस सामंत के उत्तराधिकारी को राजधानी में आयोजित एक समारोह (तलवार बँधाई) में उक्त जागीर का स्वामी घोषित करता तथा उसकी कमर में स्वर्गीय सामंत की तलवार बाँधता था। किसी भी पुत्रहीन सामंत को गोद लेने का अधिकार था। नाबालिग सामंत-पुत्रों का संरक्षण अधिकांशतः उनकी माताएँ करती थी।'[4] प्रायः यही व्यवस्था अन्य राजपूत राज्यों में कुछ भिन्नता के साथ प्रचलित थी।

वतन जागीर का संप्रत्यय

अध्ययन काल में राजस्थानी राज्यों में प्रचलित उपरोक्त वंशाधारित जागीर

1 टॉड कृत राजस्थान, p 85
2 डॉ शिवचरण मनारिया उत्तर मुगलकालीन मेवाड़ p 172
3 वीरविनोद (श्यामलदास कृत) p 789-90
4 पूर्वोद्धृत p 174-175

भू राजस्व तन्त्रों की प्रकृति
(Nature of Land Revenue Systems)

डा गोपीनाथ शर्मा के अनुसार "राज्य और कृषि करने वालो के बीच सम्बन्ध स्थापित करने में 'कर' एक माध्यम था। साधारणत उपज का 1/3 से 1/4 भाग लगान के रूप में लिया जाता था।"[1] डा जी एस देवडा के शब्दों में "भू राजस्व जिसे हासिल कहा जाता था भाग (कृषि कर) तथा रोकड (अन्य कर) से मिलकर बनता था।'[2] फसल के स्वरूप उपज तथा काश्तकार की जाति को ध्यान में रखकर हासिल का निर्धारण किया जाता था। राज्य में भू राजस्व निर्धारण की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित थी। कूता प्रणाली के अन्तर्गत खडी फसल को आँका जाता था। कूतन (आँकने) में पिछले वर्ष की उपज के आँकडे से भी सहायता ली जाती थी। कूतन में किसान की बात को भी सुना जाता था तथा उसके विश्वास नही करने पर वह राज्य के दीवान व राजा को अपनी शिकायत पहुँचा सकता था। *कॉकड कूंट पद्धति में खडी फसल के आधार पर पैदावार का अनुमान लगाकर* लगान निर्धारित किया जाता था। मुकाना पद्धति एक तरह की अनुबन्ध व्यवस्था थी। इसमें चौधरी व साहणा द्वारा खेत का मूल्यांकन करके निर्धारित की गई रकम किसान को चुकानी पडती थी। डोरी पद्धति के अनुसार लगान प्रति बीघा के हिसाब से तय होता था। इसके अतिरिक्त हलगत और बीघडी पद्धतियाँ भी प्रचलित थी।

लगान निर्धारित करते समय भूमि की उर्वरा शक्ति कृषक की जाति फसलों के प्रकार आदि का ध्यान रखा जाता था। बंजर भूमि पर नाम मात्र का कर लगाया जाता था। कृषि पर निर्भर जातियों की अपेक्षा ब्राह्मणों एवं राजपूतों से कम कर लिया जाता था।

किसान को भूमि कर के अतिरिक्त भी अन्य कर देने पडते थे। ये कर हासिल की वसूल करते समय काश्तकारों एवं रय्यत द्वारा हवलदार व चौधरी का चुकाने पडते थे। धुआँ भाछ गाँव के प्रत्येक घर पर जलने वाले चूल्हों की सख्या पर लगाया जाता था। यह एक प्रकार का गृह कर था।[3] इसके अतिरिक्त अन्य कर थे— खडमीसर (मारवाड में पानी पीने पर) जमी चौथ (जमीन पर बिक्री कर) हवाब (राज्य के बढ़ते खर्चे की पूर्ति हेतु कर) जुमाना 'पान चराई (पशुओं की चराई पर) आदि। इन करो का दबाव व आतंक बहुत अधिक था। *डा गोपीनाथ शर्मा के अनुसार—'इनमें कुछ कर नियमित थे और कुछ अनियमित* थे। मुगलो के सम्पर्क के कारण राहदारी बाब पेशकश जकात गनीम, बराड आदि कर राजस्थान में प्रचलित थे।[4]

1 डा गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास p 491–92
2 डा जी एस एल देवडा राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था p 217
3 डा जी एस एल देवडा राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था p 168
4 डा गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास p 168

कर वसूली में इस बात का ध्यान रखा जाता था कि उतना ही कर वसूल किया जाए जिसके बाद किसान के पास इतना बच सके कि वह अपनी न्यूनतम अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। यह बताना कठिन है कि करों का कुल कितना भार जनता पर था। एक अनुमान के अनुसार केवल भू राजस्व कर कुल उत्पादन का 45% वसूल किया जाता था। अनुमान लगाया जा सकता है कि अन्य करों सहित अपनी कुल आय का 55 से 60% तक जनता करों के रूप में चुकाती थी। कर न देने पर गाँव जब्त कर लिए जाते थे। इस उल्लेख मिलते हैं कि करों की अधिकता के कारण कुछ क्षेत्रों में गाँव सूने हो गए थे। टॉड ने बीकानेर राज्य के सन्दर्भ में लिखा है कि— करों की सख्ती से राज्य की जनसंख्या कम हो गई थी।[1]

ग्राम प्रशासन की सबसे छोटी इकाई था। राज्य द्वारा नियुक्त हुयलदार नामक कर्मचारी 'भूमि-कर' तथा रोकड़ रकमों की वसूली करते थे। चौधरी कर वसूल करने में राजकीय कर्मचारियों की सहायता करता था। पटवारी का कार्य गाँव की भूमि का मापन और भूमि-कर वसूली के रिकार्ड को तैयार करना था।[2]

सामान्य अर्थ व्यवस्था का सम्बन्ध पंचायत व्यवस्था से गहरा था। तीन प्रकार की पंचायतें होती थी। ग्राम पंचायत जाति पंचायत और व्यावसायिक पंचायत। ग्राम पंचायतों के समक्ष जो विवाद आते थे उनमें अधिकांशतः आर्थिक होते थे। भूमि स्वामित्व, भूमि के रहन तथा सीमा सम्बन्धी विवादों का समाधान ग्राम पंचायतें करती थी। व्यावसायिक पंचायतों का सम्बन्ध गाँवों की अपेक्षा शहरों और कस्बों से अधिक था।

प्रत्येक तीसरे या चौथे वर्ष पड़ने वाले अकाल से मध्ययुगीन अर्थ व्यवस्था त्रस्त थी। राज्य का कोई न कोई भाग प्रत्येक वर्ष अकाल से ग्रस्त रहता था। डॉ गोपीनाथ शर्मा के अनुसार— यातायात की गति में शिथिलता होने से सहस्रों जन और पशु इस अवसरों पर मौत के शिकार होते थे।[3] अकाल का सर्वाधिक प्रभाव कृषकों पर पड़ता था। खाद्यान्न चारे एवं पेयजल की गम्भीर समस्या उत्पन्न हो जाती थी। अकाल की सम्भावना मात्र पर लोग पशुओं को लेकर अन्य राज्यों में चले जाते थे। 1747 ई में सारे राजस्थान में अकाल पड़ा था। जे एस गहलोत के अनुसार राजस्थान में अध्ययन काल के अंतर्गत 1661 1746 व 1755 में भीषण अकाल पड़े थे। अकाल के समय लोग मालवा सिंध या आगरा की ओर अभिनिष्क्रमित हो जाते थे तथा वर्षा होने के उपरान्त

1 टॉड राजस्थान, भाग-2, p 11, 82 & 83
2 डा जी एस एल देवड़ा राजस्थान की प्रशासनिक
3 पूर्वोक्त p 492

ही अपने घरो को लौटते थे।[1] अकाल ग्रस्त राजस्थान के क्षेत्रो के विषय म यह पद्य प्रचलित है—

"पग पूगल सिर मेरता, उदरज बीकानेर
भूलो चूको जोधपुर थावो जेसलमेर।'

अर्थात् अकाल स्वय कहता है कि—'मेरे पर पूगल (बीकानेर) म मेरता मे सिर व बीकानेर म पेट रहते हैं। कभी कभी म जोधपुर आता हू किंतु मेरा स्थायी निवास जसलमेर म है।'

व्यापार एव वाणिज्य
(Trade and Commerce)

व्यापार व वाणिज्य हेतु बाजारो की स्थापना

व्यापार एव वाणिज्य का प्रचलन राजस्थान के कई भागो म था। स्थानीय व्यापार गलियो व मुहल्लो मे होता था जहाँ उत्पादक ही व्यापारी होता था तथा उसका घर ही दुकान के रूप म प्रयुक्त होता था। विशेष वस्तुओ के क्रय विक्रय के लिए विशिष्ट बाजार होते थे जहाँ एक ही प्रकार की वस्तुएँ व्यापारी बेचत व खरीदत थे। दुकानो और बाजार की रक्षा का भार शासन पर था। विशेष अवसरो पर हाट लगत थे। इस सम्बन्ध म डा गोपीनाथ शर्मा का कथन है कि— साप्ताहिक अर्द्ध साप्ताहिक या विशेष अवसरो पर हाट लगता था, जहाँ सभी प्रकार की वस्तुएँ उपलब्ध होती थी। पुष्कर परबतसर राजनगर और नागौर म विशेष रूप से पशुओ का मेला लगता था जहाँ दूर दूर स लोग आत थे और पशुओ का खरीदत तथा बेचत थे।'[2]

शासको द्वारा बाजार स्थापित करन का उल्लेख अनेक शिलालेखो म मिलता है। उदाहरणार्थ कक्कुक के घटियाला अभिलेख स ज्ञात होता है कि कक्कुक न अपनी राजधानी राहिसकूप (वर्तमान घटियाला) म आभीरो के विद्रोह् का शान्त करक एक व्यवस्थित हाटक (बाजार) का निर्माण कराया था। इसी प्रकार सामन्तसिंह (चौहान) के जालोर अभिलेख स भी नरपति नामक यक्ति द्वारा हाट के निर्माण का उल्लेख हुआ है। मुहनोत नणसी न परगनो की विगत म जोधपुर की व्यवस्था पर प्रकाश डाला है। विभिन्न भागो म स्थित विभिन्न प्रकार की दुकानो का हवाला नणसी ने दिया है।[3] इस विवरण स स्पष्ट है कि मध्य कालीन राजस्थान मे बाजारो की उत्तम व्यवस्था थी।

व्यापारियो की सुविधा का ध्यान

कम तालने या मिलावट करने के अपराध पर कठोर दण्ड दिया जाता था। शासक लोग व्यापारियो की सुरक्षा का पूरा ध्यान रखत थे। डा गोपीनाथ शर्मा

1 *J S Gahlot* Rajasthan Before Second World War p 123
2 पर्वोद्धत p 493
3 डा मांगीलाल मयक जोधपुर राज्य का इतिहास p 241

के अनुसार—"मध्यकालीन राजस्थान में आम तौर पर व्यापारिक नैतिकता संतोषजनक थी।"[1] कर्नल टाड ने लिखा है—"आश्चर्य की बात लगती है कि लूटमार व आपसी गृह कलह में जब सम्पूर्ण भारत अव्यवस्था का केन्द्र बना हुआ था, उन दिनों में भी आज की शांति पूर्ण व्यवस्था की अपेक्षा दस गुना व्यापार प्रचलित था।"

राजस्थान के शासक व्यापार वाणिज्य को विकसित देखना चाहते थे। इसलिए वे व्यापारियों की सुरक्षा की उचित व्यवस्था करते थे। उन्हें कई करों से मुक्त रखा जाता था। कुछ विशेष प्रकार की वस्तुओं के लिए माल अधिक मात्रा में तथा विशेष स्थान से खरीदा जाता था। डॉ गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में—ऐसे स्थानों में ऊन के लिए जैसलमेर और बीकानेर रूई के लिए कोटा, अफीम के लिए प्रतापगढ़ जंगली काष्ठादिक के लिए दक्षिण-पश्चिम राजस्थान प्रसिद्ध थे।[2]

अन्तर्राज्यीय व्यापार आयात–निर्यात

व्यापार दो प्रकार का होता था—अन्तराज्यीय और अन्य राज्यों से। अन्तर्राज्यीय व्यापार करने वाले बंजारे एवं सौदागर कहलाते थे। इन सौदागरों से जो कर प्राप्त होता था उसे 'दाण (चुंगी) कहा जाता था। दाण प्राप्ति के लालच में इन व्यापारिक काफिलों का प्रत्येक शासक स्वागत करता था।[3] बात परगने फलौदी से ज्ञात होता है कि मोटा राजा उदयसिंह ने राठौड़ बरसी तेजावत को एक काफिले के स्वागतार्थ भेजा था।[4]

अन्तराज्यीय मण्डियों में जैसलमेर फलौदी अजमेर, आमेर पाली मेड़ता, बाड़मेर आदि मुख्य थी। यहाँ कुछ कर देने से माल बाहर से लाया या यहाँ से ले जाया जा सकता था।[5] मुगल सत्ता की स्थापना तक नागौर एवं अजमेर का महत्त्व बढ़ गया था। अन्तर्राज्यीय व्यापारिक वस्तुओं में कपड़ा नमक, तम्बाखू अनाज आदि मुख्य थी जिनका राजस्थान के एक भाग से दूसरे भाग में लेन देन होता रहता था।[6] व्यापार की स्थिति एवं व्यापारिक वस्तुओं तथा आयात निर्यात के सम्बन्ध में डा गोपीनाथ शर्मा ने लिखा है—"राजस्थान की केन्द्रीय स्थिति भारत के अन्य भागों से व्यापारिक सबंध जोड़ने में बड़ी सहायक सिद्ध हुई। मध्य युग में उत्तरी और दक्षिणी भारत से वस्तुओं का आदान प्रदान होता था। गुजरात सिंध मालवा और बुरहानपुर से आने वाले और ले जाने वाले माल के लिए अजमेर नागौर मेड़ता चित्तौड़, बयाना उमरकोट मोरवाना तथा पाटन मण्डियाँ थी। मुगल दरबार में और सूबों में भी राजस्थान के माल की माँग थी और कई राज्यों में मुगल सूबों से माल आता था। यहाँ से चमड़े का सामान लकड़ी का

1–2 पूर्वोद्धृत p 497 व 493
3 डॉ मोतीलाल व्यास मयंक जोधपुर राज्य का इतिहास, पृ 100
4 बात परगने फलोदी री
5 नैणसी री ख्यात पृ 47, 98 & 134

सामान वतन घोडे ऊँट आदि मुगल दरबार म उपहार के रूप मे भेज जाते थे या खरीदे जाते थ। छुहारा नारियल, सोना हाथी घोडे बढ़िया शराब, मलमल, सूना मवा परदे बुरहानपुरी कपडा सारगपुरी पगडियाँ, बनारसी साडियाँ बूटेदार गुजराती रेशम कश्मीरी ऊनी सामान औरगाबादी कपडे आदि की माँग थी। राजस्थान के नरेश बाहर से आने वाले व्यापारियों को कर म छूट देत थ और उनकी सुरक्षा का प्रबन्ध करते थ। इन सुविधाओं के कारण कई व्यक्ति समृद्ध व्यापारी बन गये जिनम उत्तम चन्द शाह सुजान गुलाब भारती बाबा दयालगिरी गरी लाल, देवदत्त आदि प्रसिद्ध हैं। कई स्थानीय व्यापारियों ने दक्षिणी और उत्तरी भारतवर्ष के सूबा म अपनी दुकानें खोल दी जिसस व्यापारिक प्रगति का बडा लाभ पहुचा। इतना होत हुए भी यह स्वीकार करना होगा कि राजस्थान म व्यापारिक गति मन्द थी क्योकि यहाँ माल इकट्ठा करन की सुविधा तथा यातायात और सुरक्षित मार्गों का अभाव बना रहा।'[1]

व्यापारिक कर

वस्तुओं पर बिक्री कर लगाया जाता था जिसे माप भी कहते थे। जानवरों के क्रय विक्रय पर 'खूटा फिराई तथा दपोटा कर लिया जाता था। बिक्री कर में अनाज की बिक्री का कर मुख्य था।[2] बीकानेर राज्य म जगात नामक कर लगाया जाता था जो वस्तुत सीमा शुल्क आयात निर्यात कर तथा चुगीकर का सामूहिक नाम था। यह कर मुख्य रूप स उन वस्तुओं पर लिया जाता था जो बाहर स आती थी बाहर जाती थी राज्य क्षेत्र म गुजरती थी या यहा बिकती थी।

विनिमय हेतु मुद्रा का प्रचलन

व्यापारिक सुविधा के लिए राजस्थान म मुद्रा का प्रचलन था जो अलग अलग आकार और तोल की थी। अभिलेखीय स्रोतो स हम कई मुद्राओं का उल्लेख मिलता है। इनम स सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मुद्रा द्रम थी।[3] इनके अतिरिक्त हाएल और रूपक का भी प्रचलन था। 15वी सदी के अनेक लेखो म टका के सोने चाँदी व ताँबे के होन के प्रमाण मिलत हैं।[4] एक टके का तौल चार माशा होता था। कुम्भाकालीन सुन्दर मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं जो स्वर्ण निर्मित हैं। इनका आकार चौकोर या गोल है। ताँबे के भी अनेक सिक्के प्राप्त हुए हैं। मध्ययुग म तुर्ककालीन और मुगलकालीन सिक्के भी प्रचलित रहे है। इन सिक्को के विषय म डा गोपीनाथ शर्मा ने लिखा है कि— इन सिक्कों को फिरोजशाही आलमशाही शालमशाही नौरगशाही और अकबरी सिक्के कहते थे। इनम चाँदी अधिक होती थी और मिलावट का अनुपात कम होता था। ताँबे के पसो को कदिया ढागला

1 4 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास p 493-95
2 डॉ जी एस एल देवडा राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था पृ 179
3 डॉ मांगीलाल व्यास मयक जोधपुर राज्य का इतिहास p 244

स्वरूपशाही आदि नामों से जाना जाता था। 'गुमानशाही' और 'चलनी मुद्राओं का प्रयोग कोटा में होता था। कुचामनी, चित्तौड़ी भाडशाही, अखैशाही चाँदोड़ी मीरखानी, शिवशाही आदि कई सिक्के होते थे जिनमें चाँदी का अनुपात इस माशे या पाँच माशे हुआ करता था। इन सिक्कों का राजस्थान में सभी जगह ले लिया जाता था परन्तु चाँदी के भाव के अतिरिक्त 'बट्टा' काट लिया जाता था।"

साहूकार

मध्यकालीन व्यापारिक जीवन में साहूकारों की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण थी। ये सिक्कों में मिलावट की जाँच करते थे, उधार देते थे और क्रय विक्रय किया करते थे। बैंकिंग प्रणाली के अभाव में साहूकारों का महत्त्व व्यापार वाणिज्य की दृष्टि से बहुत अधिक था। डा. शर्मा के अनुसार—'कृषकों को बीज की आवश्यकता के अवसर पर या रुपयों की आवश्यकता पर वे कर्ज देते थे जिसे वे मूल और ब्याज सहित निश्चित समय में वसूल कर लिया करते थे। राज्य को भी संकट के समय वे सहायता देते थे। एक स्थान से जब दूसरे स्थान पर रुपयों की आवश्यकता होती थी तो हुण्डी के द्वारा मुद्रा भेज दी जाती थी। ऐसे धन पर सूद की दर एक रुपये पर मासिक एक आना होता था। राजस्थान के बाहर भी स्थानीय साहूकार अपनी दुकानें स्थापित करते थे और आदान प्रदान में सहायता पहुंचाते थे।'[1] डॉ. एन. के. सिन्हा ने इन साहूकारों की आलोचना करते हुए कहा है कि "ये सेठ या साहूकार बड़ी दरों पर कर्ज देकर मूल से भी ब्याज अधिक वसूल कर लेते थे और गरीब किसान का सर्वस्व अपहरण कर लेते थे। इस अर्थ में आर्थिक विप्लव या युद्ध की गड़बड़ी के समय वे नृशंस रूप से अपने स्वार्थ की सिद्धि करते थे।'[2] किन्तु डा. शर्मा ने साहूकारों की उपयोगिता का समर्थन करते हुए कहा है कि— मेरे विचार से आजकल जैसे बैंकों के अभाव में वाणिज्य और व्यापार की अभिवृद्धि में उनका खूब योगदान रहता था।"[3]

वस्तुओं के मूल्य

मध्य युग के अध्ययन काल में दस्तकारों की अधिकता के कारण वस्तुओं का उत्पादन बहुत होता था, किन्तु उस अनुपात में क्रेता नहीं होते थे। फलतः माँग व पूर्ति के आर्थिक सिद्धान्त के अनुसार उस समय वस्तुओं की कीमत बहुत कम थी। डा. शर्मा के अनुसार 10 मन गेहूं के दाम 14 से 16 रुपये होते थे। 10 मन जौ की कीमत 9 से 10 रु. होती थी। एक मन दाल की कीमत 1 रु. तथा एक मन घी के दाम 25 रु. से 30 रु. होते थे। साधारण साड़ी की कीमत 2 रु. एक पगड़ी की कीमत 2 रु. और 10 गज लंबी छींट की कीमत 2 रु. होती थी। इसी प्रकार साधारण ऊँट की कीमत 12 से 35 रु. घोड़े की कीमत 5 से 20 रु. गाय की 2 से 5 रु. बैल की 12 से 27 रु. की कीमत होती थी।[4]

1, 3 *Dr. G. N. Sharma* Social Life in Medieval Rajasthan p. 337-342
2 *Dr. N. K. Sinha* Survey of Indian Social Life p. 178
4 वही p. 313-15

इस विवरण से स्पष्ट है कि उस समय वस्तुओं के मूल्य बहुत कम थे कितु उसी के अनुपात में वेतन या आय भी कम होने के कारण लोगों की क्रय शक्ति कम थी। कृषकों की कम पैदावार होने के कारण बेगार में काम करना पड़ता था तथा दस्तकारों की दशा ठीक न थी। केवल वे दस्तकार जो राजाश्रय में रहते थे उन्हीं की दशा सम्माननीय थी।

व्यापारिक मार्ग (Trade Routes)

व्यापारिक सुविधाओं के लिए अनेक व्यापारिक मार्गों का निर्माण हो चुका था। राजस्थान की भौगोलिक स्थिति भी अन्य राज्यों से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने में सहायक रही। अकबरनामा में हमें कई व्यापारिक मार्गों का उल्लेख मिलता है।[1] आगरा से अहमदाबाद तक एक मार्ग फतेहपुर सीकरी अजमेर व नागौर होता हुआ जाता था। विलियम फिंच के अनुसार आगरा से चित्तौड़ एवं चित्तौड़ से अहमदाबाद तक का मार्ग चाटसू लालसोट मेड़ता एवं जालोर होता हुआ जाता था।[2] तारीख ए मुबारकशाही से ज्ञात होता है कि दिल्ली मालवा मार्ग नागौर व ग्वालियर होता हुआ जाता था।[3] एक मार्ग देवल बन्दरगाह से मंडोर होते हुए दिल्ली तक जाता था। एक अन्य मार्ग अजमेर से नागौर होते हुए अयोध्या तक जाता था। सारंगपुर मंदसौर या झालावाड़ होते हुए आगरा से अहमदाबाद जाने का भी एक मार्ग था। आगरा से माण्डू जाने के लिए मेड़ता चित्तौड़ रणथम्भौर, कोटा गागरोन और उज्जैन होकर जाना पड़ता था। मालवा जाने के लिए उदयपुर डूंगरपुर बाँसवाड़ा रणथम्भौर व बयाना होकर भी जाया जा सकता था।

एक रास्ते से कई रास्ते जुड़े हुए थे। अजमेर से कई सड़कें आमेर मेवाड़ सिवाना सांभर और चित्तौड़ से रणथंभौर और अजमेर जाने के मार्ग थे।[4] ये समस्त मार्ग सामरिक एवं व्यापारिक दोनों दृष्टियों से उपयोगी थे।[5] इन सड़क मार्गों के विषय में डा गोपीनाथ शर्मा का कथन है कि– इन सड़कों का उपयोग व्यापारिक सैनिक तथा सामाजिक था। सड़कें कच्ची और मिट्टी की होती थी जिससे बरसात में यातायात की कठिनाई अनुभव होती थी। लम्बी सड़कों की यात्रा जो जंगली या रेतीले भागों से करनी होती थी खतरे से खाली नहीं थी क्योंकि चोरी, डकैती तथा हिंसक पशुओं का उनमें भय बना रहता था। नदियों और नालों पर पुल नहीं होने से वर्षा ऋतु में यात्रा करना असुविधाजनक होता था। फिर भी इन सड़कों से सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक लाभ होते रहते थे।[6]

1 अकबरनामा अबुल फजल भाग–1 p 7–14 व भाग 2 p 517–539
2 *William Finch* Early Travels in India p 170
3 तारीख ए मुबारकशाही p 34 166 193 व 217
5 डा मांगीलाल व्यास मयंक जोधपुर राज्य का इतिहास p 243
6 डा गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास p 495

ग्रामीण अर्थव्यवस्था
(Rural Economy)

मध्यकालीन राजस्थान की ग्रामीण अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार कृषि था। पशुपालन और जाति आधारित व्यवसायों का भी ग्रामीण अर्थव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान था।

आर्थिक जीवन का आधार कृषि होने के कारण भूमि का बड़ा महत्त्व था। राज्य की समस्त भूमि का अधिकारी स्वयं राजा हुआ करता था। इसी कारण राजा को भूपाल, पृथ्वीपति, भूपति आदि उपाधियों से विभूषित किया जाता था। डा. मांगी लाल व्यास मयंक के अनुसार— राजा द्वारा प्रदत्त भूमि को पाँच भागों में विभाजित किया गया है—खालसा भूमि, जागीर भूमि, शासन अथवा मुआफी की भूमि और चरणोत भूमि।[1] इन भूमियों का विवरण पिछले अध्याय में दिया गया है। डा. गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में— स्वामित्व एवं भूमि की उर्वराशक्ति के आधार पर भूमि का वर्गीकरण किया जाता था। सिंचाई की सुविधा वाली जमीन पीवल, पानी से भरी हुई जमीन गलत हांस, जोती जाने वाली हकत बकत काली उपजाऊ जमीन माल, पहाड़ी जमीन मगरो' कंकर वाली जमीन कांकड़ आदि। इन सभी प्रकार की भूमि को क्यारी और बटकाया कटका' में बाटा जाता था। रहट या चरस या चमड़े की टोकरियों से सिंचाई की जाती थी। कहीं कहीं नदी के ऊपर गड्ढों में पानी भरकर सिंचाई होती थी और कहीं तालाबों से नहर ले जाकर भूमि को सींचा जाता था।[2]

वर्ष भर में दो फसलें होती थी। सर्दी में पैदा होने वाली फसल को स्यालू (खरीफ) तथा गरमी में पैदा होने वाली फसल को उनालू (रबी) कहते थे। राजस्थान में बाजरा, मूंग, मोठ, चावल, ग्वार आदि खरीफ की पैदावार थी व गहूँ, चना, सन, सरसों, तम्बाकू, अलसी, जीरा, धनियाँ आदि रबी की पैदावार था। मारवाड़ में बालू मिट्टी की अधिकता तथा वर्षा की कमी के कारण अधिकांश क्षेत्र में एक ही फसल पैदा की जाती थी। मारवाड़ में सिंचाई का मुख्य साधन कुएं थे। डा. मांगी लाल व्यास की मान्यता है कि गहराई एवं जल की मात्रा के अनुसार अलग अलग प्रकार के कुएँ होते थे।[3] मुहनोत नैणसी ने चांच, कोसीटी, बाहर, अरटबावनी, पावटा आदि प्रकार के कुओं का वर्णन किया है।[4] मरु प्रदेश में मुख्य रूप से बाजरा, ज्वार, मोठ, गेहूं, जौ, चना, ग्वार, तिल, मूंग, कपास, मक्की, ककड़ी, मतीरा आदि उत्पन्न होते थे। कुछ जंगली फल व फलियाँ (सांगरी, कैर, कुमठा आदि) भी उत्पन्न होती थी।

कृषि के बाद पशुपालन का ग्रामीण अर्थव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान था। इस सम्बन्ध में डॉ. शर्मा का यह कथन उल्लेखनीय है कि राजस्थान अपने

1 3 डॉ. मांगीलाल व्यास मयंक — जोधपुर राज्य का इतिहास, p 234 235

2 डा. गोपीनाथ शर्मा — राजस्थान का इतिहास p 487

4 मुहनोत नैणसी — मारवाड़ रा परगना री विगत भाग-1 पृ 205-394

पशु धन के लिए बड़ा प्रसिद्ध रहा है। इसलिए पशुओं के चमड़े से घी तेल आदि द्रव पदार्थों के रखने के लिए सीदड़े (भाण्ड) ढाल, तलवार की म्यान, घोड़े का साज काठी आदि यहाँ अच्छे बनते रहे।'[1] बैल व ऊँट कृषि के काम में आते थे, गाय से दूध प्राप्त होता था। यातायात एवं व्यापार की दृष्टि से भी पशुओं का महत्त्व था।

महत्त्व की दृष्टि से कृषि एवं पशुपालन के उपरान्त ग्रामीण अर्थव्यवस्था में उद्योगों (जातिगत व्यवसायों) का स्थान था। गाँव कच्चे माल के उत्पादन का केन्द्र थे। बड़े उद्योग तो कस्बों और शहरों में ही स्थापित थे किन्तु ग्रामीण क्षेत्रों की सामान्य आवश्यकता की वस्तुओं का उत्पादन गाँवों में ही होता था। डा मांगीलाल व्यास के शब्दों में— जाति व्यवस्था का मूल आधार भी विभिन्न आर्थिक क्रियाएँ ही रहा है। प्रत्येक गाँव अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं कर लेता था। नैणसी द्वारा लिखित परगनों की विगत से ज्ञात होता है कि प्रत्येक गाँव में अलग अलग जाति के लोग रहा करते थे जो अपने जातीय धन्धे के माध्यम से गाँव की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे।[2] डॉ जी एस एल देवड़ा की मान्यता है कि 'गाँव जाति विशेष से आबाद थे किन्तु गाँवों में अन्य जातियों के लोग भी निवास करते थे।[3] इन जातियों में खाती कुम्हार माँमी जुलाह, बुनकर रंगर, ढेड़ खटीक मोची सुनार छीपा दर्जी कलाल पिंजारा, भड़मूंज हलालखोर (कसाई) नाई भंगी आदि प्रमुख थे। नमक बनाने वाले लोग खारवाल तथा व्यापारी लूणिया महाजन कहलाते थे। नमक उत्पादन केन्द्रों में साँभर डीडवाना पचपदरा कचर रेवासर (शेखावाटी) लूणकरनसर छापुर (बीकानेर) और कानोद (जैसलमेर) थे। कागज घोसुंडे व सवाई माधोपुर में हाथ से बनाया जाता था जो बहीखाते व दस्तावेजों में प्रयुक्त होता था। गुलाब का इत्र व गुलाब जल नाटा कोठारिया व पुष्कर में शराब महुए से प्रायः सभी जगह खसखस का इत्र सवाईमाधोपुर में पत्थर व संगमरमर कोटा व मकराना में आतिशबाजी कोटा व जयपुर में, साबुन व लकड़ी का काम उदयपुर में काँच की नक्काशी प्रतापगढ़ में, घोड़े की काठियाँ जालौर में तलवार सिरोही में व बन्दूक की खालियाँ मालपुरा में बनते थे।'[4]

पारिश्रमिक का उल्लेख करते हुए डा गोपीनाथ शर्मा का कथन है कि 'किसी भी उद्योग में लगे हुए श्रमिकों को जो पारिश्रमिक दिया जाता था वह नाम मात्र का होता था। एक साधारण शिल्पी को चार आने से छः आने दैनिक पारिश्रमिक मिलता था।'[5] इस प्रकार राजस्थान के इतिहास के अध्ययन काल में आर्थिक जीवन सामान्य था।

---

1 4 5 पूर्वोक्त, पृ 483 व 495
2 डा मांगीलाल व्यास मयंक जोधपुर राज्य का इतिहास पृ 238
3 डा जी एस एल देवड़ा राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था पृ 217

11 राजस्थान में धार्मिक आन्दोलन— मन्दिरों की भूमिका

(Religious Movements in Rajasthan— Role of Temples)

मध्यकालीन राजस्थान की धार्मिक स्थिति

राजस्थान युग-युगान्तर में धर्म और संस्कृति का केन्द्र रहा है। श्रद्धा विश्वास, पुण्य कार्य धार्मिक शिक्षा आदि धर्म के अन्तर्गत समझे जाते रहे। मध्यकाल में भारतवर्ष की जो धार्मिक स्थिति थी वैसी ही स्थिति राजस्थान में भी थी। यहाँ पर हिन्दू धर्म अनेक सम्प्रदायों में विभाजित था जिसके अन्तर्गत अनेक देवी-देवताओं की पूजा होती थी जिनमें ब्रह्मा सूर्य शिव शक्ति राम, कृष्ण आदि देवता प्रमुख थे।[1] शूरवीर राजपूतों में शैव और शक्ति धर्म का प्रभाव अधिक था, वहीं वैश्यों में जैन धर्म का प्रभाव अधिक था। आर्यों के वैदिक धर्म की जड़ें भी यहाँ गहरी थीं। वैदिक धर्म के प्रभाव को राजस्थान में आज भी देखा जा सकता है। मेवाड़ के बप्पा रावल क्षेत्रसिंह तथा महाराणा कुम्भा वैदिक यज्ञों को करते थे। जोधपुर के अभयसिंह और जयपुर के सवाई जयसिंह ने भी यज्ञ परम्परा को जारी रखा। 12वीं शताब्दी में राजस्थान में इस्लाम का प्रवेश हुआ।

बी एम दिवाकर के अनुसार महमूद गजनी के समय से राजस्थान में इस्लाम का प्रवेश माना जाता है। वैसे 12वीं शताब्दी में इस धर्म का राजस्थान में प्रचार शुरू हुआ। देश के अन्य भागों को जीतकर तो सुल्तानियत काल के शासकों ने शक्ति व तलवार के जोर से इस्लाम का प्रचार किया जिसमें काश्मीर पंजाब दिल्ली उत्तर प्रदेश, बिहार व बंगाल प्रमुख हैं किन्तु भारत के इस भाग पर उनका स्थाई अधिकार कभी नहीं रहा और उनके तूफानी व विनाशकारी आक्रमण राजस्थान के धार्मिक विश्वासों को अपनी शक्ति से नहीं हिला सके। राजस्थान में इस्लाम का प्रचार सन्तों और फकीरों के माध्यम से हुआ। अजमेर के ख्वाजा मुइनउद्दीन चिश्ती का

1 डॉ देवीराम मध्यकालीन राजस्थान में धार्मिक आन्दोलन पृ 7

नाम कौन नही जानता। इनकी दरगाह पर हज करने के लिए दूर दूर देशों स यात्री आते हैं। अकबर को भी ख्वाजा साहब की कृपा स ही जहाँगीर जसा एक मात्र पुत्र प्राप्त हुआ था। ख्वाजा साहब न अपनी सरल और सहज भावना स इस धम को लोकप्रिय बना दिया। उ ही के व्यक्तिगत प्रभाव स राजस्थान म इस्लाम का प्रचार हुआ। इसके अतिरिक्त नागौर मेडता जालौर और मांडल म भी फकीरो की शक्ति द्वारा इस्लाम का प्रचार हुआ। आज दिन भी उन फकीरो व पीरो की दरगाह पर वार्षिक मेले होत हैं और जन साधारण की यह मा यता है कि उनके सकट इन पीरा की आराधना स दूर हो जाते हैं। राजस्थान के राजा सदा सहिष्णुता का पालन करते थ। उ होने जहाँ जन व अ य धर्मों के मदिरा की स्थापना मे खुन हाथ स दान दिया था वहा वे इस्लाम धम का भी पूण सरक्षण प्रदान करते थे। महाराजा अजीतसिह और जगतसिह न ख्वाजा साहब की दरगाह क अजमर के आस पास कई गाँवा का जागीर म भी भेंट दिए थ। अकबर के समय से तो मुगलो क अधीन आ जाने के कारण अजमर म इस्लाम का केन्द्र ही बन गया और सभी बादशाहा न दरगाह क गठन व विस्तार म पूरा याग दिया। कि तु समय समय पर कठोर शासको की अधीनता म तोड फोड की नीति अपना कर शासको न इस्लाम के प्रति शत्रु भावना को ज म दिया और इस क्षेत्र म इस्लाम की प्रगति का धक्का लगा। हि दुओ और मुसलमाना म कटुता बढी कि तु साथ साथ रहने के कारण य एक दूसर को प्रभावित करत रहे और सांस्कृतिक समन्वय ने एक नई सभ्यता को ज म दिया। राजपूत राजाओ ने मुसलमान कलाकारो व शिल्पियो को अपने यहाँ स्थान देकर अपनी उदारता का परिचय दिया।[1]

धार्मिक सुधार और भक्ति प्रवाह

डा गोपीनाथ शमा का मत है कि परम्परागत धर्मों म सभी वग और स्तर के व्यक्ति विश्वास रखते थे और रखत है। पर तु जब देश म कई विचारक परम्परागत धम म आन वाले दोषो को निकालने का प्रयत्न कर रह थ और धम सुधार की प्रवृत्ति बल पकड रही थी राजस्थान भी इस दिशा म पीछे नही रहा। इस्लाम क प्रभाव से अब य चि तक धार्मिक मनन को प्रधानता देन लग। जात पाँत के भेदभावा स ऊपर उठकर मनुष्य जाति क कल्याण क माग की ओर विचारको का ध्यान गया। धम क पाखण्ड स सगठन की चेतना जागृत हुई। साथ ही यह भी चेष्टा बनी रही की आधारभूत भारतीय विचार और धम की ओर लोगो की श्रद्धा बनी रहे और परम्परागत धम म पदा होने वाल विकारा को भक्ति क द्वारा परिमार्जित किया जाए। भजन मनन कीतन आदि साधनो स ईश्वर म आसक्ति पदा की जाए। इस प्रकार की प्रगति को भक्ति आ दोलन या धार्मिक सुधार की सना दी जाती है। राजस्थान के मध्यकालीन ग्र था म इन विचारा का प्रतिपादन किया गया था। विप्रबोध (1688) म नवचेतना और धम के प्रति नए दृष्टिकोण

1 बी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास पृ 399-400

अपनाने क सकेत मिलत हैं। इसम हरि को सर्वोपरि मानते हुए तथा प्रायना का महत्व बतलात हुए योगी यति, पण्डित और शखो की विशेष स्थिति की नि दा की गइ है। उत्यराज नामक लखक न ईश्वर को पिदर और शक्ति को मादर बतलाया है। पश्चिमाभिमुखोत्र म राम और रहीम गोरख और गेसू पीर और मीर एव अल्ला और अकबर म कोई भेद नही माना गया है। इससे स्पष्ट है कि इस काल स हि दू मुस्लिम सस्कृति के सामजस्य ने विचारो मे साम्य और भावो म उदारता का सचार कर दिया था।'[1]

इस सामजस्यवादी भावना न धार्मिक रूढिया एव कुरीतियो के निवारण हेतु राजस्थान म धार्मिक सुधार एव भक्ति क प्रवाह को प्रोत्साहित किया। धार्मिक सुधार आदोलनो को प्रेरित करन मे तत्कालीन कुछ धमा ध मुस्लिम शासको की अन्य धर्मावलम्बियो के विरुद्ध की गई कायवाही न भी पर्याप्त योगदान किया यद्यपि सूफी स तो एव इस्लाम धम की सरलता एव सादगी ने इस्लाम धर्म के प्रति लोगों म आकर्षण उत्पन्न किया था।

मानव जीवन की सरल और सहज भावना इस्लाम धर्म के प्रचार मे फलदात्री रही। डा गोपीनाथ शर्मा के अनुसार नतिक और धर्म की कुछ मूलभूत समस्याओ की ओर सूफी सन्तो के उदारवादी दृष्टिकोण ने न केवल राजस्थान मे 13वी सदी के इस्लामिक जीवन म ही प्रेरणात्मक शक्ति प्रदान की बल्कि उनके ये आदर्श परवर्ती काल तक बने रहे।[2]

डा पमाराम की मान्यता है कि सनिक दल और सूफी सन्तो के फलस्वरूप ही यहाँ इस्लाम का प्रचार नही हुआ बल्कि इसके लिए यहाँ की सामाजिक पृष्ठभूमि भी उत्तरदायी थी। हि दू समाज म अनक जातियाँ उपजातियाँ एव कई नई नई जातियाँ बन चुकी थी। इस युग म अ त्यज समझी जाने वाली जातियो की स्थिति बडी दयनीय थी। भील डोम चाण्डाल मच्छीमार व्याध धोबी चिडीमार, मातग चमार नट गाँठे जुलाहे खटीक आदि अन्त्यज जाति क अन्तगत आत थ। इनक घर बस्ती क बाहर होत थे तथा इनक हाथ का छुआ खाना-पीना निषिद्ध था। फलत अपनी हीन दशा के कारण अनक जातियाँ इस्लाम की ओर आकर्षित हुई जिसम सामाजिक समानता की भावना विद्यमान थी।'[3]

राजस्थान के लोक देवता—राजस्थान म उपरोक्त अ त्यज जातियो मे धर्म की सामाजिक समानता का और आकर्षण उत्पन्न हुआ और उनम धर्मातरण की भावना उत्पन्न की जिसके कारण मुस्लिम शासको न उन्हे इस्लाम धर्म अपनाने को प्रोत्साहित किया। बाँकीदास री ख्यात म इस तथ्य का उल्लेख किया गया है। 'राजस्थान की अन्त्यज जातियो की स्थिति बहुत खराब थी। अन्त्यजो क हाथ का छुआ हुआ पानी पीना पाप समझा जाता था। परिणामस्वरूप ये जातियाँ इस्लाम की

1 डा गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास पृ 104
2 *Dr G N Sharma* Social Life in Medieval Rajasthan p 220
3 डा पेमाराम मध्यकालीन राजस्थान में धार्मिक आदोलन पृ 25

ओर आकर्षित हुइ क्योकि इस्लाम धर्म मे सामाजिक समानता की भावना विद्यमान थी। सीमावर्ती भागो के कई गाँव मुस्लिम धर्म के प्रभाव म आ चुके थ। इनम भरतपुर, मेवात फतेहपुर, झुझुनू शेखावाटी आदि प्रदेशो का अधिकाँश भाग सम्मिलित था।'[1] डॉ पेमाराम की मान्यता है कि 'इस समय मुस्लिम आक्रमणो के फलस्वरूप मन्दिर ध्वस हिन्दुओ का उत्पीडन तथा गोवध होने लगा तो एसी स्थिति मे धर्म एव गो धन की रक्षा के साथ स्थानीय जनता की रक्षा करना अत्यजो का समाज म उचित स्थान दिलाना आदि महत्त्वपूर्ण समस्याएँ प्रस्तुत हो गइ जिनका निराकरण होना आवश्यक था। भाग्यवश एसी विकट परिस्थितियो म कुछ एसे व्यक्ति जनता के सामने आए जिन्होंने स्थानीय जनता एव गोवश की रक्षा हेतु अपने प्राण योछावर कर दिए एव साथ ही जिन्होने निम्न जातियो का ऊपर उठाने का प्रयास किया। इस व्यक्तियों म गोगाजी पाबूजी तेजाजी तथा रामदेवजी प्रमुख थे जिन्हे बाद म जनता ने लोक देवता का रूप दे दिया। इसी समय कुछ ऐसे व्यक्ति भी हुए जिन्होने अपनी वीरता सिद्धि तथा चमत्कार द्वारा लोगो को प्रभावित किया जिनम मल्लीनाथजी देवजी, हरभूजी आदि प्रमुख हैं। लोक देवता पहले तो अपने अपने वर्ग मे पूजे गए और बाद म फिर इन्हे सर्वसाधारण द्वारा भी मान्यता मिली। इनम मल्लीनाथजी और रामदेवजी तो ऐसे थे, जिन्होने बाह्य आडम्बरो का विरोध करते हुए नाम स्मरण तथा साधु सन्तो का सत्सग करने पर जोर दिया। एस सन्तो की जीवनचर्या और उपलब्धियाँ युग युग के लिए अमूल्य धरोहर हैं।[2]

राजस्थान मे भक्ति आन्दोलन

11वी स 14वी शताब्दी के मध्य राजस्थान के धार्मिक जीवन म एक नइ पृष्ठभूमि का निर्माण हो चुका था। 15वी शताब्दी के धार्मिक जागरण ने इस पृष्ठभूमि को और अधिक प्रोत्साहन दिया जिसका प्रारम्भ राजस्थान म पन्ना और पीपा ने किया। ये सन्त रामानन्द और कबीर से प्रेरणा ले रहे थे जो इस समय भारतीय धार्मिक जीवन म एक नई विचारधारा को जन्म दे रहे थ।[3] राजस्थान म विभिन्न धर्मों के अनुयायी परस्पर प्रेमपूर्वक रहते थ और उनम धर्म सहिष्णुता की भावना थी किन्तु मुसलमानो के राजस्थान म प्रवेश करते ही यहाँ का वातावरण अशान्त व क्षुब्ध हो उठा। मुस्लिम आक्रमणकारियो ने मन्दिरो को नष्ट किया व हिन्दुओ को बलपूर्वक मुसलमान बनाना प्रारम्भ कर दिया। समाज म इसकी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। इस काल म अनेक लोक देवता एव सन्त हुए जिन्होने हिन्दू मुस्लिम समन्वय का समर्थन किया। इन सन्तो ने धार्मिक आडम्बरो का विरोध किया और हृदय की शुद्धि व ईश्वर की भक्ति पर जोर दिया। धार्मिक क्षेत्र म इस परिवर्तन को भक्ति आन्दोलन या धर्म सुधार आन्दोलन कहा जाता है। उत्तरी भारत म इसका श्रेय सन्त रामानन्द को दिया जाता है। राजस्थान म भक्ति

1 बाँकीदास री ख्यात पृ 167
2-3 डा पेमाराम मध्यकालीन राजस्थान म धार्मिक आन्दोलन पृ 30-31 व 63

म्रा दोलन को प्रबल रूप देने मे पाबूजी रामदेवजी, हरभूजी व गोगाजी का योगदान उल्लेखनीय है। मुस्लिम आक्रमणों ने इसम प्रेरक का काय किया।

राजस्थान मे भक्ति म्रा दोलन के मुख्य सन्त

राजस्थान म भक्ति एव धम सुधार म्रा दोलन मे जिन सन्तो ने प्रमुख योगदान दिया वे निम्नांकित थ—

(1) धन्ना—इनका ज म 1419 ई म टोक जिल क एक गाँव धुवन (धुम्रा) म एक जाट परिवार म हुम्रा था। ये रामान द के शिष्य थ।[1] म्रारम्भ स ही उनकी रुचि भगवद् भजन की म्रोर थी। उन्होने काशी जाकर रामान द का शिष्यत्व ग्रहण किया। ये ईश्वर भक्त होते हुए गृहस्थ बन रहे व कृषि काय करत रहे। य प्रारम्भ म मूर्ति पूजक थे किन्तु रामानन्द के प्रभाव स निगुण भक्ति के मनुयायी हो गए।[2] 'इनका विचार था कि ईश्वरानुभूति म्रान्तरिक खोज म्रौर ध्यान द्वारा ही की जा सकती है तथा रामनाम जपने स मोक्ष प्राप्त हो सकती है। इन्होंने जाति पर म्राधारित विभेद का विरोध करते हुए बताया कि सब प्राणियो मे एक ईश्वर का ही निवास है।[3]

(2) सन्त पीपा—सन्त पीपा स्वामी रामान द के प्रमुख शिष्यो म स एक थ। य गागरोन (कोटा स 20 मील दूर स्थित दुग) के शासक थ तथा जाति मे खीची राजपूत थ।[4] इनका ज म 1425 ई म हुम्रा था। ये म्रारम्भ स ही ईश्वर भक्ति म लीन रहत थ। पीपा की प्राथना पर रामानन्द कबीर व रदास एक बार गागरोन म्राए थे। बाद म व स्वय राजपाट त्याग कर द्वारिका गए म्रौर रामानन्द के शिष्य बन गए। बाद म वे गागरोन वापस म्राकर एक गुफा म रहने लगे।

सन्त पीपा की मा यता थी कि ईश्वर प्राप्ति हतु गुरु की कृपा म्रपेक्षित है। ईश्वर की खोज मन के म्र दर करनी चाहिए। वे म्रात्म निवेदन पर जोर देत हुए कहते थ हे प्रभो ! मै तुम्हारा सवक हू म्रौर तुम मेरे स्वामी हो। व साधु सगत व समागम का म्रच्छा समभते थे तथा म्रभिमान मोह बुद्धि माया म्रादि का भक्ति म बाधक मानत थे। वे मूर्ति पूजा व बाह्य म्राडबरो के विरोधी थ। व समाज म ऊच नीच के भेदभाव के भी विरोधी थे।

(3) जाम्भोजी—जाम्भोजी का जन्म 1451 ई म जोधपुर राज्य के म्र तगत नागोर परगने के पीपासर म गाँव म हुम्रा था। य पँवार वशीय राजपूत थे। इनके पिता का नाम लोहटजी व माता का नाम हाँसा था जो भाटी वश की थी।[5] य म्रारम्भ स चि तनशील व मितभाषी थे जिसके कारण लोग उन्हे गूगा समभते थ।

1 भक्तमाल नाभादास p 31
2 प्रियदास भक्तमाल की टीका p 340-41
3 डा पेमाराम मध्यकालीन राजस्थान म धार्मिक म्रान्दोलन पृ 77
4 फर्कुहर An Outline of Religious Literature of India, p 230
5 स्वामी ब्रह्मानन्द श्री जम्भदेव चरित्र पृ 33

डा गोपीनाथ शर्मा ने इनकी आश्चयजनक घटनाओ पर टिप्पणी करत हुए कहा है कि 'सम्भवत अचम्भित करतूतो स लोग इ ह जाम्भोजी कहने लगे हो। 7 वष की आयु म इ ह गायें चराने भेज दिया गया। 16 वष की अवस्था म इन्हे आत्म चिंतन से सद्गुरु का साक्षात्कार हुआ। विश्नोई सम्प्रदाय की मान्यता है कि जाम्भोजी ने गुरु गोरखनाथ स दीक्षा ग्रहण की थी।"[1] कि तु डा पेमाराम इसका खण्डन करत हुए कहत हैं कि गोरखनाथ तो जाम्भोजी स कई सौ वष पहले हुए थ।

माता पिता की मृत्यु होने पर य गृह त्याग कर अपना अधिकांश समय सम्भराथल नामक स्थान पर रहकर सत्सग व हरिचचा म बिताने लगे। इसी स्थान पर 1485 इ म उन्होने विश्नोई सम्प्रदाय की स्थापना की। 41 वष तक अपन मत का प्रचार करते हुए 1526 ई म तालवा गाँव मे उनका देहावसान हो गया।

डा पेमाराम के अनुसार जाम्भोजी एक महान् विचारक थ जिन्होन ईश्वर आत्मा मोक्ष स्वग नरक जीव मन मरण आदि पर अपने विचार प्रकट किए तथा मोक्ष प्राप्ति हेतु गुरु का निर्देशन, विष्णु जप एव सत्सग पर जोर दिया। जाम्भोजी एक ईश्वर म विश्वास करते थे जो सबका स्वामी है।"[2] डा गोपीनाथ शर्मा के अनुसार वे केवल मननशील ही नही थ वरन् उस युग की साम्प्रदायिक सकीर्णता कुप्रथाओ एव कुरीतियो के प्रति भी जागरूक थे। वे चाहत थे कि अधविश्वास और नतिक पतन के वातावरण स सामाजिक दशा को सुधारा जाए और आत्म बोध क द्वारा कल्याण के माग को अपनाया जाए।[3] कुछ हि दी के शोध विद्यार्थियो की धारणा है कि य विष्णु क अवतार थे और अपने अनुयायियो म दिन म पाँचो समय विष्णु की पूजा करने को कहत थ।

जाम्भोजी का ग्र थ जम्भवाणी है जो राजस्थानी भाषा म लिखा गया है। इनकी शिक्षाओ म वष्णव आय धम जन और इस्लाम धम की श्रष्ठ बातो का समन्वय स्पष्ट रूप म दिखाइ देता है। उ हाने मुर्दो को गाडना उचित बताया। इनम धार्मिक सहिष्णुता भी बहुत थी कि तु फिर भी अन्य धर्मो की आलोचना करत थ। विशेष रूप स जन धम इनकी आलोचना का केन्द्र रहता था। इनक द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय विश्नोई सम्प्रदाय कहलाता है। इन्ह 20+9 (बीस+नौ)= 29 नियमो का पालन अनिवाय रूप से करना पडता है।[4]

जाम्भोजी द्वारा प्रतिपादित 29 नियमो म प्रमुख नियम थे—प्रतिदिन प्रात स्नान करना शौच सतोष वाह्य व आ तरिक पवित्रता त्रिकाल सध्या आरती व हरिगुण गान हवन पानी व दूध को छानकर पीना, वाणी सयम रखना क्षमा व दया का धारण जीव दया पशुओ व वृक्षो की रक्षा आदि का पालन करना तथा चोरी, नि दा झठ वाद विवाद अमल तबाखू भाँग मद्य आदि का त्याग करना।

1,3 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास पृ 505
2 डा पेमाराम मध्यकालीन राजस्थान म धार्मिक आन्दोलन p 87
4 डा माहेश्वरी जाम्भोजी विश्नोई सम्प्रदाय और साहित्य, भाग-1 p 434-35

डा शर्मा और व्यास क अनुसार "जाम्भाजी केवल मननशील ही नही थ बल्कि वह एक महान् विचारक और उस युग की साम्प्रदायिक सकीर्णताओ एव कुरीतियो के प्रति जागरुक भी थे।"[1]

(4) सन्त दादू—16वी शताब्दी मे राजस्थान मे दादू नाम क एक प्रमुख सन्त हुए हैं। इनका ज म वि स 1601 (1544 ई) मे फाल्गुन शुक्ला अष्टमी को अहमदाबाद म हुआ था। इनकी जाति के सम्बन्ध म विभिन्न मत हैं। आचाय क्षितिज मोहन सेन[2] डा मोतीलाल मेनारिया[3] माहसिन फानी और विलसन इन्हे धुनियाँ मुसलमान बताते है। इसके विपरीत दादू ग्रन्थी इनकी जाति के विषय म कुछ भी जानकारी नही देते हैं। इतना निश्चित है कि साबरमती नदी म बहते हुए एक नगर ब्राह्मण लोदीराम ने इनकी रक्षा की और इनका पालित किया। जब यह सात वष के हुए तो इनके नानाजी सुखदेव द्वारा 1551 ई म इनका विवाह कर दिया गया।[4] वृद्धानन्द नामक एक साधु म दीक्षा प्राप्त करके दादू चिन्तन साधना म लग गए। उ होने सिरोही कल्याणपुर साभर अजमेर आम्बेर आदि स्थानो का पयटन किया। अन्त म वह 1568 ई साभर आए। यही पर सवप्रथम दादू ने अपने विचारो को प्रकट किया। जब इ हाने मुसलमानो के धार्मिक आडम्बरो का विरोध किया तो साँभर के काजी ने इन्हें बहुत कष्ट पहुचाए। 1575 ई म साँभर म ही गरीबदास नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। 1574 ई क बाद 14 वर्षो तक दादू अजमेर म रह। 1585 ई म अकबर स भी इनकी भेंट हुई। 1602 ई म दादू जयपुर रियासत के नारायणा गाँव मे आ गए और यही 1605 ई म इनकी मृत्यु हो गई।

दादू न अपन विचारो को व्यक्त करने के लिए कविता का माध्यम बनाया। उनक विचारो का सकलन उनके शिष्यो क द्वारा किया गया। यह विचार दादूजी की वाणी और 'दादू जी रा दूहा' म सकलित है। इसम हम दादू क विचारो और सिद्धान्तो के विषय म जानकारी प्राप्त होती है।

दादू की शिक्षाएँ—दादूजी न सन्तो की भाँति ब्रह्म जगत् माया आदि पर जन-साधारण की भाषा म विचार व्यक्त किए। इन्होने ईश्वर को स्वयभू निराकार, परम ज्योति स्वरूप माया स परे त्रियारहित एव सदा एक रस माना है।[5] माया क विषय म उनका कथन था कि 'आत्मा व परमात्मा क बीच अन्तर डालन वाली शक्ति ही माया है।' दादूजी मोक्ष म विश्वास नही करत थ। व जीवन मुक्ति को ही वास्तविक मुक्ति मानते थ। यह मुक्ति ईश्वर की उपासना स प्राप्त की जा सकती

1 डा शर्मा व व्यास राजस्थान का इतिहास
2 क्षितिज मोहन सेन दादू धमकमलिका p 17
3 डा मोतीलाल मेनारिया राजस्थान का पिंगल साहित्य p 183
4 सुधन्याल श्री दादू चरित्र चित्रावली p 13
5 दादूजी की वाणी साखी 22

है। उन्होंने गुरु की महिमा को बड़ा महत्त्व दिया है। गुरु पशु से मनुष्य, मनुष्य से ज्ञानी और ज्ञानी से देवता बना सकता है। देवता से ब्रह्म बनाने में भी वह समर्थ है।

दादू अहंकार को आत्म तथ्य प्राप्ति में सबसे बड़ा बाधक तत्त्व स्वीकार करते थे। मन के निग्रह द्वारा अहंकार नष्ट किया जा सकता है। हरि स्मरण में मन लगाने के लिए दादूजी ने साधु संगति को आवश्यक बताया। वे बहिर्मुखी साधना के आडम्बर का खण्डन करके अन्तर्मुखी साधना पर बल देते थे। वे संसार को माया जाल में फंसा हुआ समझते हुए कहते थे—

माया साँपणि सब डसे कनक कामिणी होई
ब्रह्मा विष्णु महेस लौ दादू बचे न कोई।[1]

दादू निर्गुण ब्रह्म को मानते हुए उसकी प्राप्ति के लिए कहते हैं कि मानव को अहं छोड़ देना चाहिए क्योंकि—

"जहाँ राम तहँ मैं नहीं, मैं तहँ नाही राम।
दादू महल बारीक है द्वै को नाही ठाम।।[2]

दादू ने बताया कि विरह रूपी अग्नि में मन के समस्त विकार दूर हो जाते हैं और अहंकार नष्ट हो जाने पर मन उस ब्रह्म में लीन रहता है।

दादू का समाज सुधारक रूप एवं उसका सामाजिक प्रभाव—डा. गुप्ता व डा. ओझा के शब्दों में दादू सच्चे सन्त में एक समाज सुधारक भी थे। उन्होंने समाज में व्याप्त बुराईयों, आडम्बरों द्वारा भेद भाव भ्रान्ति का खंडन किया है। उन्होंने हिन्दू एवं मुसलमानों दोनों को समझाया है। वे जाति पाँति एवं वर्ग भेदभाव के पचड़े में विश्वास नहीं करते थे। वे तीर्थ यात्रा के महत्त्व को भी स्वीकार नहीं करते हैं। उन्होंने बताया कि सिर मुंडवाने या जटा बढ़ाकर विभिन्न प्रकार के वेश धारण करने से ईश्वर के साक्षात्कार नहीं होते हैं। दादू ने कहा कि मन्दिर और मस्जिद तो हमारे शरीर में ही हैं इसलिए अन्तःकरण की उपासना करनी चाहिए। इस भाँति दादू ने बाह्य आडम्बरों का निषेध एवं अन्तःकरण की शुद्धि पर बल दिया। चूंकि दादू ने देशकाल एवं वातावरण के अनुरूप सरल एवं सरस भाषा का प्रयोग किया अतएव लोगों को समझने में विशेष दिक्कत नहीं आई और इनका पंथ शीघ्र ही लोकप्रिय होता गया।[3] दादू की शिक्षाओं का लोगों के मस्तिष्क एवं विचारों पर अद्भुत प्रभाव पड़ा और उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ने लगी।

दादू पंथ—दादू की ख्याति का आधार उनका दादूपंथ का प्रवर्तक होने में है। उनके 152 शिष्य थे जिनमें 52 मुख्य थे। इनमें सुन्दर दास का स्थान सर्वप्रथम

1–2 दादूजी की वाणी साखी 22
3 डा. गुप्ता एवं ओझा राजस्थान का इतिहास, एक सर्वेक्षण p 167

था। डा गोपीनाथ शर्मा के शब्दो म "दादू द्वारा कविता म व्यक्त किए गए विचारो को उनके शिष्यो न सकलन किया जिनको दादूदयाल की वाणी तथा दादू याल रा दूहा कहते है। इनके अध्ययन से हम दादू के भाव, विचार और सिद्धान्तो की जानकारी कर सकते हैं। इनके शिष्यो मे सुन्दर दास बखनाजी और रज्जब जी विशेष उल्लेखनीय हैं। इस पथ के 52 शिष्य बावन स्तम्भ कहलाने लगे। इन प्रमुख दादूपथ स अपना सब ध तो बनाए रखा पर ये होने कई शाखा और प्रशाखाओ का भी प्रवतन कर डाला जिनम खालसा, नागा उत्तराढी विरक्त तथा खाकी मुख्य है। आज भी नारायणा की गद्दी को दादू पथ की प्रधान गद्दी माना जाता है और सभी खम्भा के अनुयायी इसकी मान्यता स्वीकार करते हैं।[1]

(5) मीरा बाई (Mira Bai)—डा गोपीनाथ शर्मा के अनुसार- जिस युग म सम वय क प्रयत्न तथा सादे और सारगर्भित विचारो की मा यता बढ रही थी उस समय एक राजपूत महिला जिसका नाम मीरा था द्वारा इस विचारधारा को अधिक बल मिला। प्रियदास के भक्तमाल और मेडतियारी ख्यात से मीरा के जीवन की कहानी के कुछ अश स्पष्ट होते हैं। मीरा अपने पिता रत्न सिंह की इकलौती पुत्री थी। इनका जीवन मारवाड के एक गाँव कुडकी म लगभग 1498 ई म हुआ था। इनका लालन पालन इनके दादा दादूजी के यहाँ मडता म हुआ। जिस वातावरण और परम्परा म इनका बाल्यकाल बीता वह वैष्णव धम स ओतप्रोत था। परन्तु जब इनका विवाह महाराणा सांगा के पुत्र भोजराज स हुआ और उनके पति का देहावसान हो गया तो उन्ह अपने ससुराल म विरोधी वातावरण और वधव्य के अभिशाप की यातना स गुजरना पडा। स्वजनो के अभाव और सामाजिक विडम्बना स ग्रस्त मीरा के जीवन म एक नया मोड आया। उन्ह जीवन स मोह घटता गया और उनकी निष्ठा भक्ति भाव और स त सवा की ओर द्रुतगति स बढती चली गई।[2] यह कथन अनेक विवादास्पद मतो स घिरे मीरा के जीवन की ऐतिहासिकता को व्यक्त करता है। डा जी एन शर्मा के ही शब्दो म एक मत के अनुसार वृन्दावन म रहते हुए, अथवा दूसरे मत के अनुसार द्वारिका मे रहते हुए वह नृत्य करते करते रणछोडजी की मूर्ति के सामने 1540 ई क लगभग लीन हो गई।[3]

मीरा की भक्ति भावना—भारत की नारी सन्तो मे मीरां का नाम प्रथम है। उसके काव्य म सांसारिक ब धनो का त्याग तथा ईश्वर के प्रतिपूर्ण समपण का भाव मिलता है।[4] मीरां की दृष्टि मे सांसारिक सुख एव वभव निस्सार है यदि कोई सत्य है तो केवल गिरधर गोपाल हैं भवसागर से पार उतारने वाले खेवनहार हैं। मीरां का मानना था कि ईश्वर के प्रति पूर्ण समपण स ही ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है। मीरां की भक्ति म किसी भी प्रकार के आडम्बरपूर्ण पूजा पाठ, रूढियो

1 डा गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास पृ 516
2 डा गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास p 107-108
3 4 *Dr G N Sharma* Social Life in Medieval Rajasthan p 233

और बाह्य उपकरणों के लिए कोई स्थान न था। भक्ति का सरल मार्ग ही उन्होंने अपनाया। डा पेमाराम के अनुसार, 'मीरां की भक्ति की यह विशेषता थी कि इसमें ज्ञान पर इतना बल नहीं था जितना भावना और श्रद्धा पर। यही कारण है कि साधारण स्तर के व्यक्ति के लिए मीरां द्वारा प्रतिपादित मार्ग सुगम है।[1] मीरां की भक्ति भावना के विषय में डा गोपीनाथ शर्मा ने लिखा है भगवान के प्रति उसकी अगाध श्रद्धा रूढिगत धर्म पुस्तकों में प्रतिपादित धर्म तथा धर्मानुष्ठान और रीति रिवाजों पर आधारित धर्म के लिए एक क्रांति बनकर प्रकट हुई और इस अर्थ में वह नवयुग की अग्रदूता थी।[2]

मीरां के नाम से जो साहित्य उपलब्ध होता है वह निम्नांकित छ ग्रंथ हैं—(1) मीरां पदावली, (2) नरसी जी रो मायरो (3) राग सारठ (4) राग गोविंद (5) सत्य भामाजी नू रूसणा' और (6) गीत गोविन्द की टीका। इनमें गीत गोविन्द की टीका सत्य भामाजी नू रूसणा व नरसी जी रो मायरो के रचियता क्रमश राणा कुम्भा गुजराती कवि वल्लभ तथा रतना खाती को माना जाता है। अधिकांश विद्वान मीरां द्वारा रचित केवल 250 के लगभग पदों को ही मान्यता देते है।

मीरां की भक्ति सगुण थी अथवा निर्गुण इस सम्बन्ध में विवाद है। डा पीताम्बर दत्त बडथ्वाल का मानना है कि मीरां नाथ पंथ से प्रभावित थी। डा शर्मा और व्यास के अनुसार 'मीरां के आराध्य देव के स्वरूप में कोई भ्रांति नहीं होनी चाहिए। मीरां का सम्पूर्ण प्रेम उसकी अशेष भक्ति एक ही सगुणी लीलाधारी कृष्ण के प्रति निवेदित हुई है जिसका गिरधर नाम ही मीरां को सर्वाधिक प्रिय था।[3] मीरां ने अपने गिरधर गोपाल के सगुण स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है—

बसो मेरे नैनन में नंदलाल।
मोहिनी मूरति सांवरी सूरति नैना बने विशाल।
अधर सुधारस मुरलि राजति उर बैजंति माल।

अत मीरां की सगुण भक्ति में संदेह करना निरर्थक है।[4]

मीरा दासी सम्प्रदाय—अधिकांश लोगों की मान्यता है कि प्रेम रस में लीन मीरां को इस बात के लिए समय ही नहीं मिला कि वह कोई सम्प्रदाय स्थापित

1 डा पेमाराम मध्यकालीन राजस्थान में धार्मिक आन्दोलन p 181
2 *Dr G N Sharma* Social Life in Medi val Ra asthan p 233
3 डॉ शर्मा एवं व्यास राजस्थान का इतिहास
4 मीरा पदावली

करती अथवा शिष्य बनाकर उ ह भक्ति का उपदेश देती। इस सम्ब ध मे एक दोहा प्रचलित है—

नाम रहेगा काम स सुनो सयाना लोग।
मीरां सुत जायो नही, शिष्य न मु डया कोय।[1]

इसके विपरीत एनसाइक्लापीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स म मीरां सम्प्रदाय के सम्ब ध में लिखा हुआ है जिसके अ तगत विशेष रूप से स्त्रियो में कृष्ण के बाल स्वरूप की आराधना पद्धति के प्रचलित होने की बात लिखी हुई है। श्री विल्सन ने भी अपने ग्र थ मे इस सम्प्रदाय के विषय म लिखा है।[2] कि तु यह सत्य नही है। डा पेमाराम के अनुसार— यदि मीरां की कोई शिष्य परम्परा होती तो मीरां के समस्त पदो के सरक्षण का स्थायी साधन होता और मीरां के पदो की विस्तृत व्याख्याएँ और टीकाएँ हो गई होती। इतना ही स्वीकार किया जा सकता है कि मीरां ने राजस्थान के अनेक राजकुमारो एव राजकुमारियो को भक्ति मार्ग की ओर चलने की प्रेरणा दी। मीरां की भक्ति भावना का विधवा स्त्रियों पर विशेष प्रभाव पडा। विधवाए मीरां के समान ही कृष्ण से श्रद्धा यक्त करने लगी।'[3] डा गोपीनाथ शर्मा के अनुसार 'मीरां को पथ प्रदर्शिका स्वीकार करते हुए मीरां जैसे ही वस्त्र धारण करते हुए, कृष्ण के प्रति वैसा ही माधुर्य सम्ब ध रखने वाली ब्राह्मण एव अ य जातियो की विधवा स्त्रियाँ मेवाड मे आज भी विद्यमान हैं।[4]

मीरां का मूल्यांकन करते हुए बी एम दिवाकर ने लिखा है 'राजस्थान के भक्तो का मीरां एक नया भक्ति मार्ग बता गई। इसी आधार पर वह इतिहास मे अमर हो गई और साहित्य की धरोहर बन गई। उसके प्रभु प्रेम ने उसे अमर कर दिया वह राजस्थान की राधा बन गई।[5] डा मनारिया के शब्दो मे 'मीरां प्रेम और भक्ति की दीवानी थी आध्यात्मिक आकुलता भक्त हृदय का अटल विश्वास इनकी कविता म अपूर्व रूप म झकृत है। साहित्यिक दृष्टि से यदि देखा जाए तो इनकी कविता कोई बहुत ऊची नही है परन्तु स्वाभाविक तथा भक्तिभावपूर्ण होने से एक भक्त हृदय को मुग्ध करने मे वह फिर भी अप्रितम है। सूर सचमुच हिन्दी साहित्य के सूर हैं पर तु मीरां के शब्दो म जो रस है मीठा सा दर्द है वह उनम नहीं आ पाया है।'

(6) सत रामचरण तथा रामस्नेही सम्प्रदाय (Saint Ram Charan and Ram Sanehi Sect)—डा गोपीनाथ शर्मा ने सत रामचरण व रामस्नेही सम्प्रदाय का परिचय देते हुए कहा है कि— रामचरणजी 18वी सदी के प्रमुख

1 मीरा पदावली
2 *Wilson H H* The Religious Sects of the Hindus
3-4 पूर्वोद्धृत
5 बी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास

प्रबुद्ध सन्त थे जिन्होंने समाज और संस्कृति के घटते मूल्यों का उद्धार किया। उन्होंने प्रारम्भ से ही लोक कल्याणार्थ सत्य पथ के निर्देशन का बीड़ा उठाया और मेवाड़ के अचल में शाहपुरा को कार्य क्षेत्र चुना। वहाँ रहते हुए उन्होंने अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों को 'अणभवाणी' के रूप में अवतरित कर लोक के लिए कल्याण के मार्ग को सुलभ बना दिया। इनके द्वारा प्रतिपादित मार्ग रामस्नेही सम्प्रदाय कहलाता है। स्वामीजी के समय में ही इस सम्प्रदाय के सहस्रों अनुयायी बन गए। इन्होंने रामनाम के पावन मन्त्र का प्रचार किया और दूर दूर राम की महिमा का सन्देश भेजा। धीरे धीरे इनकी शिष्य परम्परा बढ़ती चली गई जिनके प्रयास से जगह जगह रामद्वारों की स्थापना हुई। इस पथ में नैतिक आचरण सत्यनिष्ठा धार्मिक अनुष्ठान पर बल दिया जाता है चाहे वह रामद्वारे का साधु हो या गृहस्थी। रामचरण और उनके पीछे की गुरु परम्परा द्वारा रचित वाणियों का इस सम्प्रदाय में बड़ा महत्त्व दिया जाता है जिसका बड़े प्रेम से गाया जाता है और व्याख्या की जाती है। ये कृतियाँ ब्रजभाषा या राजस्थानी में होती हैं जो कि जन समुदाय को आकर्षित करती हैं और रोचक लगती हैं।[1]

जीवन परिचय—डा गुप्ता व डा ओझा ने सन्त रामचरण का जीवन परिचय देते हुए बतलाया है कि— मेवाड़ राज्य में रामस्नेही सम्प्रदाय का उद्भव एवं विकास मध्यकाल की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। डिग्गी तहसील के सोडा गाँव में शनिवार माघ शुक्ला चतुर्दशी विक्रम संवत् 1776 (1718 ई) को विजयवर्गीय वैश्य रामचरणजी जिनका बचपन का नाम रामकृष्ण या रामकिशन था जन्म हुआ। ये मालपुरा के पास बनवाडो गाँव के रहने वाले थे। सोडा तो इनका *ननिहाल था। रामचरण के पिता का नाम बख्तराम तथा माता का नाम देउजी* था। रामचरणजी शुरू से ही बड़े प्रतिभाशाली थे। अतः बताया जाता है कि जयपुर के नरेश ने इन्हें अपना मन्त्री भी बना दिया किन्तु किसी कारण से इन्होंने राज्य की नौकरी छोड़ दी। रामचरणजी के पिता का जब देहान्त हुआ उस समय उनकी आयु कोई 24 वर्ष के लगभग थी। तब इन्हें यह आभास हुआ कि संसार सरिता में बचने में केवल मात्र सद्गुरु ही सहायक हो सकता है। अतः ये अपने गुरु को ढूंढने निकल पड़े। ये घूमते हुए मेवाड़ के दाँतड़ा गाँव पहुँचे जहाँ गुरुवार भाद्रपद शुक्ल सप्तमी विक्रम संवत् 1808 को सन्त कृपारामजी के पास दीक्षित हुए। गुरु ने इन्हें 'राम नाम' का मूल मन्त्र दिया। तदुपरान्त ये गूदड़ वेश में रहते हुए 7 वर्ष तक अपनी साधना में लीन हो गए। 1758 ई में वे जयपुर के निकट गलताजी के मेले में गए। जहाँ उन्हें साधुओं में व्याप्त अनाचार एवं बुराइयों का कटु अनुभव हुआ। फलतः रामचरणजी का मन फट गया और उन्हें निर्गुण भक्ति की अन्तःप्रेरणा हुई जिसमें उन्होंने मेवाड़ के भीलवाड़ा नगर में आकर कोई 10 वर्ष तक साधना की तथा अपने उपदेश देने प्रारम्भ किए। भीलवाड़ा के लोग

1 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास, पृ 110

वाद सगुणोपासक तथा मूर्तिपूजक थे अत उनके मूर्ति पूजा विरोधी विचारों का स्वागत नहीं हुआ।"[1]

अत इन्हे भीलवाडा छोडकर वहाँ से ढाई मील की दूरी पर स्थित 'कुहाडे' गाँव में आना पडा जहाँ लोग इनकी राम धुन सभाओ में सम्मिलित होने लगे। कुछ समय बाद शाहपुरा के शासक के निमन्त्रण पर वह शाहपुरा चले गए। शाहपुरा के शासक रणसिंह ने इनके रहने के लिए छतरी बना दी। यही रह कर राम भक्ति का प्रचार करते रहे तथा 1798 ई मे उनका स्वर्गवास हो गया। शाहपुरा में एक विशाल दरवाजा इनकी स्मृति मे बना हुआ है। इनके द्वारा प्रतिपादित सम्प्रदाय 'रामस्नेही सम्प्रदाय' कहलाता है। इनके 225 शिष्य थे जिनमें 12 मुख्य शिष्य कहलाए। इन्होने 'राम नाम' के पवित्र मन्त्र का प्रचार किया। इनके अनुयायियों ने स्थान स्थान पर रामद्वारा की स्थापना की। रामद्वारा में रामस्नेही साधु रहते हैं और साधुओ मे हिन्दू जाति के लोगो को ही दीक्षित किया जाता है। ये साधु गुलाबी रंग की धोती और उपवस्त्र पहनते हैं तथा दाढी मूछ और सर के बाल नहीं रखते। इस मत के मानने वाले मूर्ति पूजा नहीं करते और राम-नाम के स्मरण को प्रधानता देते हैं। इस पथ मे नैतिक आचरण, सत्यनिष्ठा, धार्मिक अनुशासन पर बल दिया जाता है चाहे वे रामद्वारे का साधु हो या गृहस्थी। शाकाहारी होना भी इनके लिए आवश्यक होता है। राम की अर्चना दोनो स्त्री और पुरुषों के लिए वांछनीय है पर एक स्थान मे ये दोनो साथ बैठकर अर्चना नहीं करते। अर्चना के कार्यक्रम की परिपाटी मे मुसलमानों की पद्धति से कुछ साम्य दिखाई देती है।[2]

सन्त रामचरण के उपदेश व सामाजिक प्रभाव

रामस्नेही सम्प्रदाय के विषय मे निम्न तथ्य उल्लेखनीय हैं[3]—

(1) ये निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना करते थे।
(2) इनके अनुयायी या चेले नंगे पाँव भी रहते थे और कुछ लूबा लंगोट, चादर, माला और पुस्तक धारण करते थे।
(3) ये आजीवन विवाह नहीं करते थे।
(4) चेला मूडते समय उसकी दाढी मूछ और सिर के बाल मुँडवा देते थे।
(5) गुरु का प्रथम चेला ही गुरु के बाद गद्दी पर बैठता था।
(6) ये रामद्वारो मे रहकर कथा बाँचते और हरिभजन आदि करते थे।
(7) मूर्तिपूजा और अन्धविश्वासो का विरोध करते थे।

रामचरण जी ने गुरु की महत्ता रामनाम के स्मरण तथा सत्संग पर

1 डॉ गुप्ता व डॉ ओझा राजस्थान का इतिहास—एक सर्वेक्षण पृ 170 171
2 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास पृ 520.
3 बी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास पृ 485

अत्यधिक बल दिया।[1] रामचरण में सामाजिक सुधार की भावना भी थी। उन्होंने मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा, बहुदेववाद, कन्या विक्रय, हिंदू मुस्लिम भेदभाव, साधुओं का कपटाचरण आदि का विरोध किया।

रामचरण जी की अनुभव वाणी में विदित होता है कि उन्होंने गुरु महिमा पर विशेष बल दिया है। उनका विश्वास था कि गुरु ब्रह्म है जो मानव को भव सागर में पार उतारता है। ये राम-नाम के स्मरण पर जोर देते थे। उनके उपदेश सामाजिक सुधार की प्रेरणा देते हैं। रामचरण जी हिंदू मुस्लिम भेद भाव को सहन नहीं करते थे। ढोंगी साधुओं का वे विरोध करते थे। वे मादक द्रव्यों के सेवन व मांस भक्षण का निषेध करते थे। उनके द्वारा स्थापित रामस्नेही सम्प्रदाय में नैतिक आचरण सत्यनिष्ठा व धार्मिक अनुशासन पर बल दिया जाता है। उनकी वाणी व उपदेश बज या राजस्थानी भाषा में थे जो जन साधारण को आकर्षित करते थे।

स्वामी रामचरण के 225 शिष्य थे जिनमें 12 शिष्य प्रधान थे। इन शिष्यों ने राजस्थान के अनेक नगरों और गाँवों में रामद्वारे स्थापित किए। इस शाखा का प्रचार राजस्थान के बाहर दिल्ली बम्बई बड़ौदा आगरा रतलाम आदि स्थानों में हुआ। इन रामद्वारों में जो साधु रहते हैं वे शाहपुरा को अपना मुख्य स्थान मानते हैं। राजस्थान में रामस्नेही सम्प्रदाय के तीन मुख्य केन्द्र हैं (1) शाहपुरा (भीलवाड़ा) (2) सवाया (बीकानेर) और (3) रण (नागौर)।

उपरोक्त संतों के अतिरिक्त भी राजस्थान के इतिहास के अध्ययन काल के अंतर्गत निम्नांकित अन्य महापुरुष व उनके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय भी हुए हैं जिनका तत्कालीन धार्मिक और सामाजिक जीवन में विशेष योगदान रहा है—

(7) हरिदास व निरंजनी सम्प्रदाय—निरंजनी सम्प्रदाय के प्रवर्तक हरिदास का जन्म 1452 ई. में डीडवाना परगने के कापड़ोद गाँव में एक सांखला क्षत्रिय परिवार में हुआ था। विवाह के पश्चात् वे डकैती जैसे दुष्कर्म में प्रवृत्त हुए थे किंतु एक महात्मा के सदुपदेश से वे आत्म चिंतन में लीन हो गए। हरिदास की शिष्य परम्परा निरंजनी सम्प्रदाय कहलाई। इनकी मृत्यु 1543 ई. में हुई। निरंजन शब्द परमात्मा तत्व का प्रतीक है। इस सम्प्रदाय में विरक्तों को निहंग व गृहस्थों को घरबारी कहते हैं। निहंग खाकी रंग की गूदड़ी या सेली गले में डालते हैं पात्र रखते हैं व भिक्षावृत्ति से जीवन निर्वाह करते हैं।

(8) जसनाथी सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक सिद्ध जसनाथ हुए जिनका जन्म वि. सं. 1539 में बीकानेर के कातरियासर गाँव में हुआ। हमीरजी को यह बालक डावला तालाब पर मिला जिसका पालन पोषण उन्होंने व उनकी पत्नी रूपादे ने किया। वि. स. 1551 में गुरु गोरखनाथ ने उन्हें दीक्षा देकर उनका नाम जसनाथ रखा। वि. सं. 1563 में उन्होंने कातरियासर में

1 रामचरण की अणभवाणी p 66-67

समाधि ल ली। इनके जसनाथी सम्प्रदाय म निगुण व सगुण दोना प्रकार की भक्ति को माना जाता है तथा योगी की साधना के चार अग—सयत जीवन सद्व्यवहार, सद्गुरु के प्रति निष्ठा और विवेकपूण आदश बतलाए हैं। इसम 36 नियमा का पालन किया जाता है। जसनाथ की रचनाए सिभूधडा व कोडां प्रसिद्ध हैं। इस सम्प्रदाय म पवित्र जीवन पर विशेष बल दिया जाता है।

(9) सन्त दरियावजी—इनका ज म 1676 ई म जतारण म हुआ। डा मनारिया इन्हें हिन्दू किन्तु डा पमाराम मुसलमान मानते हैं। पिता की मृत्यु क बाद म अपनी माता के साथ रण' नाना के घर आ गए जहाँ स व काशी स आए एक पण्डित स्वरूपानन्द के साथ काशी चल गए। इनकी शिष्य परम्परा म गुरु भक्ति व सत्सग पर बल दिया जाता है। रामनाम स्मरण का साधना का अग माना जाता है।

उपरोक्त सन्ता व सम्प्रदायो के अतिरिक्त सन्त हरिरामदास सन्त रामदास, लालदास चरणदास आदि सन्ता न भी राजस्थान के मध्यकाल म धार्मिक सुधार आन्दोलन म अपना योगदान दिया।

धार्मिक आन्दोलन मे मन्दिरो की भूमिका
(The Role of Temples in Religious Movement)

राजस्थान के इतिहास के अध्ययन काल म धार्मिक आन्दोलन के प्रवत्तक विभिन्न सन्ता एव उनस सम्बद्ध मन्दिरो व उपासना गृहा न उनके अनुयाइयो के एकत्रित होन व अपन सम्प्रदाय क प्रचार व प्रसार म महती भूमिका निभाई है। इन सन्ता की स्मृति म स्थापित उनके सम्प्रदाया के मन्दिर या साधना के केन्द्रीय स्थला पर मला, उत्सवा एव समाराहा के अवसरा पर एकत्रित उनक अनुयाइया एव जन साधारण म आज भी अपूव उत्साह एव भक्ति भावना के दशन होते हैं। एस मन्दिरों पर सभी सम्प्रदायो व जातियो के लाग एकत्रित होकर सामाजिक एकता एव साँस्कृतिक सम वय का परिचय देत हैं। एसे मन्दिर न केवल धम अपितु समाज सुधार के भी अनुपम स्रोत रह है। तत्कालीन धार्मिक आ दोलना म उनकी भूमिका महत्त्वपूण रही है।

उदाहरणाथ लाक देवता एव देवी के रूप मे पूजित तत्कालीन सन्ता व देवियो मे करणी जी का मन्दिर देशनोक (बीकानेर के निकट) म, गागाजी की गोगामडी (गगानगर जिल की भादरा तहसील म स्थित) तेजाजी के मृत्यु स्थल सुरसूरा (किशनगढ) का मन्दिर पाबूजी मन्दिर कोलू गाँव मे, देवजी का मन्दिर देहमाली (ब्यावर के निकट) म मल्लीनाथ जी का मन्दिर तिलवाडा म रामदेवजी का मन्दिर रूणेचा (पाकरण) म हरभूजी का मन्दिर बेंगुची (जोधपुर जिले म), सन्त धन्ना का ज म स्थल धुवन (टोक जिल म) सन्त पीपा की छतरी गागरोन म जाम्भाजी का मन्दिर तालवा गाँव मे मीरा बाई का कृष्ण मन्दिर चित्तौड दुग मे, दादूजी के दादू पथ की गद्दी नारायणा कस्बे म तथा रामचरणजी क रामस्नेही सम्प्रदाय की गद्दी शाहपुरा रामद्वारे म ऐसे मन्दिर व उपासना स्थल हैं जिनका

महत्त्व राजस्थान मे धार्मिक आन्दोलन स सम्बद्ध स ता के विचारा एव सिद्धान्ता क प्रचार व प्रसार म बहुमूल्य रहा है। इसस सामाजिक एव धार्मिक सुधार की प्रेरणा एव सांस्कृतिक सम वय के लिए प्रोत्साहन मिलता है। इन म दिरा स न केवल हिन्दू सन्ता की स्मृति ही जीवित रहती है अपितु राजस्थान म कुछ सूफी सन्ता की दरगाहा स मुस्लिम धम सुधारका के सदेश भी जन साधारण तक पहुँचत हैं। इनम अजमेर स्थित सूफी सन्त शेख मुईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह प्रमुख एव विश्व विख्यात है।

डा गोपीनाथ शर्मा ने इम महत्त्व का स्वीकार करत हुए कहा है कि—"इस साम्प्रदायिक एकता और सांस्कृतिक अविच्छिन्नता का स्वरूप मध्यकालीन समन्वयपरक प्रयासा म भी मिलता है जब सन्ता के अथक परिश्रम स जाति भद कमकाण्ड के पचडे धर्माचार्यों के विशष अधिकार का अँधेरा समाप्त होता है और नतिक आचरण सदाचार, भक्ति, साधना आदि का प्रकाश ददीप्यमान हाता है।"[1]

---

1 डा गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास प 111

12 कला एव स्थापत्य का विकास

(Development of Art and Architecture)

सांस्कृतिक विकास की परम्परा—कला एव स्थापत्य का विकास सांस्कृतिक विकास का अभिन्न अग है। राजस्थान म कला एव स्थापत्य के विकास की एक सुदीघ परम्परा रही है। राजस्थान के इतिहास के मध्यकालीन अध्ययन काल म सांस्कृतिक समन्वय के कारण इस परम्परा को तीव्र गति मिली और उसकी अभूतपूव उन्नति हुई। डा जयसिंह नीरज व डा बी एल शर्मा द्वारा सम्पादित एक लेख म डॉ गोपीनाथ शर्मा ने इस काल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि मे कला व स्थापत्य के सम्बन्ध म कहा है कि— पूव मध्यकाल के पहिल राजस्थान म अनक वशों की शक्ति का उदय हो गया था जिनम गुहिल राठौड चौहान, भाटी कुशवाह आदि मुख्य थ। इ होने हूणा द्वारा की गई विध्वसात्मक क्षति को सुधारन और सांस्कृतिक पुनरुत्थान का बीडा उठाया। इस काल के कई राजवशो नरे द्र स्वय विद्वान तथा कला प्रेमी थ। इ होन अपन अपन राज्या म अच्छे शिल्पिया विद्वाना और धम धुर धरा के आश्रय के लिए सम्पूण राजस्थान के क्षेत्र को सांस्कृतिक केन्द्र बनाया। वास्तु नत्य गान साहित्य और भक्ति की विधाओ का नव जीवन प्रदान किया। इसी काल म भव्य राजप्रासाद सु दर मदिर व स्तम्भो का निमाण कराया गया। उदयपुर जयपुर, जोधपुर बीकानर आदि राज्या म किल और राजप्रासादा का निमाण कराया गया। वास्तु एव अलकरण की दृष्टि स इनका वस्तु स्थानीय है। यदि इनम मुगली प्रभाव है तो वह ऊपरी है, जिसका सुविधा की दृष्टि स स्थान दिया गया है। महाराणा कुम्भा के समय के बन किल हो या मदिर या स्तम्भ उनमे शौय, शक्ति धय और गाभीय के दिखावा की प्रधानता है।

इसी प्रकार मूतिकला और चित्रकला म कलाकारो ने स्वाभाविकता और सौ दय का समन्वय किया है कि जिनको देखकर लोकोत्तर आन द का अनुभव होता है। शृगाररत और स्नान निवृत्त या दपण मे मुख निहारती नारी मूतियाँ ऐसी तराशी गई हैं कि उनका आत्मस्थ सौन्दय और आतरिक सुकुमार भावना एक

डॉ तारा मगल के शब्दो म—'इस काल की तक्षण कला म दो विशेषताएँ स्पष्ट रूप स दिखाई देती हैं। पहली विशेषता तो यह है कि इस युग म नारी प्रतिमाओं म अत्यन्त बारीकी प्रदर्शित है। साथ ही नारी को विभिन्न मुद्राओं में दिखाया गया है। इसमे कही नायिका को घुघरू धारण करते हुए, कही शृङ्गार करते हुए, कही दर्पण देखते हुए आदि विविध नायिका सुलभ रूपों म प्रदर्शित किया गया है। नारी की मांसल आकृतियों को यहाँ प्राथमिकता प्राप्त है। महुसकरणा पार्श्वनाथ की प्रतिमा भी दर्शनीय है। यहाँ इस्लाम प्रभाव का भी आभास होता है। शिल्पकार गुजराती थ अत उन्होंने अपनी प्रादेशिक परम्पराओं को भी इसम समाविष्ट करते हुए बेल बूटा आदि का अकन खुलकर किया है। जो प्राय गुजरात की तत्कालीन मस्जिदों म प्राप्त होते हैं। अत फर्ग्युसन महोदय ने स्थानीय शिल्प की तुलना अहमदाबाद की मस्जिदों स की है।[1]

अध्ययन काल म निर्मित इन मन्दिरो व अन्य मन्दिरो के स्थापत्य की विशेषता के सम्बन्ध में डॉ गोपीनाथ शर्मा का यह कथन उल्लेखनीय है—'एक नया मोड़ दिया। जो शक्ति विकास और सगठन की भावना राज्यो के संस्थापन म आवश्यक थी वह भावना स्थापत्य म भी प्रस्फुटित हुई। इस काल म बनने वाले मन्दिरो म चाहे वे विष्णु के हो अथवा शिव के शक्ति के हो या सूर्य के, बल और शौर्य का उन्मीलन प्रगाढ रूप स दिखाई देता है। एकलिंगजी के अरण्यवासिनी के मन्दिर कुण्डाग्राम के कटभ रिपु के मन्दिर चित्तौड के सूर्य मन्दिर आम्बानेरी के हर्षमाता के मन्दिर म भागवत एकत्व और शौर्य का मिलन स्पष्ट है। ये ही तत्व आहड के आदिवराह मन्दिर और जगत् के अम्बिका के मन्दिर म उभरते हैं।[2]

(2) दुर्ग स्थापत्य

दुर्ग स्थापत्य की परम्परा हमारे देश म अत्यन्त प्राचीनकाल स रही है। इसके निर्माण म स्थान विशेष की सामरिक स्थिति को ही मुख्य रूप से ध्यान म रखा जाता था।

राजस्थान के शासको ने भी इस परम्परा का निर्वाह करते हुए दुर्गों का निर्माण किया। राजस्थान शूरवीर राजपूतो की भूमि रहा है। अत यहाँ दुर्ग बहुत बडी सख्या म बनाए गए। दुर्गों के सम्बन्ध मे राजस्थान की तुलना महाराष्ट्र स की जा सकती है। राजस्थान म इतने अधिक दुर्ग बनवाए गए कि लगभग 11–12 मील की दूरी पर एक दुर्ग देखने को मिल जाएगा। राजस्थानी लेखक मण्डन और सदाशिव ने दुर्ग को राज्य का अनिवार्य अंग बताया है। डा गोपीनाथ शर्मा ने दुर्ग बनाए जाने के कारणो पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—'चाहे राजा हो या सामन्त वह दुर्ग को अपनी निधि के रूप में समझता था। राजा अपने निवास के लिए सामग्री सग्रह के लिए और सम्पत्ति छिपाने के लिए किले बनाते

1 डॉ तारा मगल महाराणा कुम्भा और उनका काल पृ 173
2 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास p 149

थे।" राजाओं की देखादेखी जागीरदारों ने भी दुर्ग बनवाए क्योंकि उस समय दुर्ग का अधिकार में होना प्रतिष्ठा की बात समझी जाती थी। यहाँ तक कि सामन्त या जागीरदार की शक्ति का आकलन उसके अधिकार वाले दुर्गों के आधार पर किया जाता था।[1]

राजस्थान में दुर्गों के सर्वप्रथम प्रमाण कालीबंगा की खुदाई में मिले हैं। कालीबंगा, सिन्धु सभ्यता के क्षेत्र के अन्तर्गत आता था। मौर्य एवं गुप्तकाल में राजस्थान में दुर्गों के निर्माण के विषय में हम निश्चित और महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। चित्तौड़गढ़ का प्रसिद्ध दुर्ग मौर्यकाल में ही बनवाया गया था। मुस्लिम आक्रमणों के बाद दुर्ग कला में जो परिवर्तन आया और जिस प्रकार के दुर्गों का निर्माण हुआ उस पर प्रकाश डालते हुए डा. कालूराम शर्मा लिखते हैं—"उत्तरी भारत पर मुसलमानों के आक्रमण तथा भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना के बाद दुर्ग निर्माण कला में एक नया परिवर्तन आ जाता है। अब ऊँची ऊँची पहाड़ियों पर, जो ऊपर से चौड़ी होती थीं और जहाँ खेती और सिंचाई के साधन उपलब्ध थे, को दुर्ग निर्माण के लिए अधिक पसन्द किया जाने लगा। यदि ऐसी पहाड़ियों पर पहले से दुर्ग बने हुए थे तो उन दुर्गों को भी नया रूप देकर उन्हें अधिक उपयोगी बनाने का प्रयास किया गया। चित्तौड़गढ़, कुम्भलगढ़, माण्डलगढ़ आदि दुर्गों का निर्माण या कायाकल्प इसी शैली के आधार पर किया गया था। उदाहरणार्थ महाराणा कुम्भा ने चित्तौड़ के दुर्ग की सुदृढ़ प्राचीरों प्रवेश द्वारों तथा बुर्जों का निर्माण करके अधिक सुदृढ़ बनवाया था। इसी प्रकार उसने कुम्भलगढ़ का सुदृढ़ किला बनवाया। जोधपुर के दुर्ग पर प्राकृतिक जलाशय न होने के कारण विशाल टंकियाँ बनवाई गईं जिसमें वर्षा का जल एकत्र किया जाता था और रसद आदि के संग्रह के लिए बड़े बड़े गोदाम बनवाए गए ताकि दुर्ग की घेराबन्दी के समय भूख मरने की नौबत न आए। नागौर, जालौर और रणथम्भौर के दुर्गों में भी समय समय पर कई प्रकार के परिवर्तन किए गए।[2]

राजस्थान के मध्यकाल में निर्मित दुर्गों के प्रमुख उदाहरण निम्नांकित हैं—

(1) चित्तौड़ दुर्ग—राघवेन्द्रसिंह मनोहर के शब्दों में—'गिरि दुर्गों में चित्तौड़ का किला सबसे प्राचीन और प्रमुख है। वस्तुतः चित्तौड़ का यह किला जहाँ इतिहास के तीन प्रसिद्ध साके हुए सब किलों का सिरमौर है। जिसके लिए लोक में यह उक्ति प्रचलित है—गढ़ तो चित्तौड़गढ़ बाकी सब गढ़या' जो इसकी दूरव्यापी ख्याति का प्रमाण है। वीर क्षत्रिय योद्धाओं के बलिदान और राजपूत ललनाओं के जौहर के साक्षी चित्तौड़ के किले की विशेषता है घुमावदार प्राचीरें उन्नत और विशाल बुर्जें तथा विशाल पर्वत की घाटी के कारण संकरा मार्ग जिसने इस किले को सामरिक दृष्टि से अजेय दुर्ग बना दिया था। अकबर की शक्तिशाली

1 डा. गोपीनाथ शर्मा : राजस्थान का इतिहास, पृ. 545
2 डा. कालूराम शर्मा : राजस्थान के इतिहास का सर्वेक्षण, p. 276

सेना भी तीन माह से अधिक चलने वाले घेरे के बाद ही चित्तौड के किले पर अधिकार कर सकी थी। [1]

(ii) कुम्भलगढ़ दुर्ग—डा गुप्ता व डा ओझा के अनुसार कुम्भलगढ का स्थापत्य इस प्रकार है— यह किला सर्वाधिक सुरक्षित किलों मे एक है। छोटी बडी पहाड़ियो से मिलकर बना कुम्भलगढ का किला घाटियो एव बीहड जगलो से घिरा होने के कारण एकाएक नजर नही आता है। इस प्राचीन किले का नवीन परिवर्तित स्वरूप प्रदान करने वाला कुम्भा था। 1458 ई मे कुम्भा ने अपने प्रसिद्ध शिल्पी मण्डन के नेतृत्व मे इसे निर्मित करवाया था। इसे कुम्भलमेर या कुम्भलमेरु भी कहते हैं।

यह मजबूत एव दुर्गम किला नाथद्वारा से करीब 25 मील उत्तर मे स्थित है। यह समुद्री सतह से करीब 3568 फुट ऊँचा है। इसकी लम्बाई 2 मील है तथा इस पर चढने के लिए दरवाजो से युक्त गोल घुमावदार रास्ता है। केलवाडा नामक कस्बे से पश्चिम की तरफ पहाडी नाले मे होकर एक तग टेढे मेढे रास्ते को पार करते हुए कोई 700 फुट की ऊचाई पर किले का प्रथम दरवाजा आरेठपोल आता है। तीसरा दरवाजा हनुमानपोल है। यह किले का प्रमुख द्वार है। इसके बाहर कुम्भा द्वारा माण्डव्यपुर से लाई गई हनुमान की मूर्ति लगी हुई है जो उसके माण्डव्यपुर विजय को प्रमाणित करती है। किले के चारो ओर सुदृढ एव चौडी प्राचीर बनी हुई है जिस पर बुर्जे भी दिखाई देती हैं। दीवारो के नीचे खाइयाँ व खड्डे बने हुए है। विजयपोल के बाद जो समतल भूमि आ गई है उस पर बने स्थापत्य कला के नमूने देखते ही बनते हैं। यहाँ पर नीलकण्ठ महादेव का एक मन्दिर है जिसके चारो तरफ 8 फुट ऊचे प्रस्तर स्तम्भो का एक सुन्दर बरामदा बना हुआ है। कर्नल टाड ने इसे यूनानी मन्दिर मान लिया किन्तु डा ओझा ने बताया है कि इसमे ग्रीक शैली का कुछ भी काम नही है और न यह उतना पुराना ही कहा जा सकता है। [2] डा जी एन शर्मा के अनुसार यह साधारण रूप की नगर शैली है।' अत इसे यूनानी कदापि नही कहा जा सकता है। यहाँ करीब 5 फुट ऊँचा दीर्घाकार शिवलिंग है जिसकी खण्डित अवस्था से ऐसा लगता है कि आक्रमणकारियो ने खण्डित किया होगा। [3]

कुम्भलगढ दुर्ग मे अन्य उल्लेखनीय स्थापत्य की वस्तुओ मे कुम्भा द्वारा निर्मित वेदी है जो दो मजिला भवन है जिसमे यज्ञ के धुआ निकलने की व्यवस्था उसके गुबद के नीचे है। दुर्ग मे निर्मित जैन मन्दिर, झाली बाव व नामदेव के

1 डॉ जयसिंह नीरज व डॉ भगवती लाल शर्मा (स) राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा p 49

2 डा ओझा उदयपुर राज्य का इतिहास

3 डॉ के एस गुप्ता व डा जे के ओझा राजस्थान का इतिहास—एक सर्वेक्षण p 128 129

कुण्ड, विष्णु मदिर, रायमल के पुत्र पृथ्वीराज का स्मारक (छतरी) अचलेश्वर महादेव का मदिर कुम्भ स्वामी का मदिर आदि दशनीय है जो तत्कालीन स्थापत्य कला का परिचय देते है। डा गोपीनाथ शमा ने इस दुग की सामरिक उपयोगिता का उल्लेख करते हुए कहा है कि—'राणा कुम्भा ने कुम्भलगढ के किले का पहाडी शृखलाओ से घेरे हुए स्थान म सुरक्षित किया। किले के भीतर ऊचे भाग का प्रयोग राजप्रासाद के लिए तथा नीचे से नीचे भाग को जलाशयो के लिए और समतल भाग को खेती के लिए रखा गया। बची हुई भूमि का उपयोग मदिरो तथा मकानो के निमाण म किया गया। किले के चारो ओर दीवारें चौडी और बडे आकार की बनाई गई जिन पर कई घोडे एक साथ चल सकते थे। प्राकार की दीवार का ढाल इस तरह रखा गया कि उस पर सरलता से चढना कठिन था। कही कही दीवारो के नीचे गहरे पहाडी गड्ढे ऐसी स्थिति म रख गए कि हमलावर फौजो का दुग म घुसना कठिन था।[1]

(iii) **रणथम्भौर दुग**—राघवेन्द्रसिंह मनोहर के अनुसार— राजस्थान के गिरि दुर्गों म प्रमुख तथा हम्मीर की आन का प्रतीक रणथम्भौर अरावली पवतमाला की शृखलाओ से घिरा एक विकट दुग है। बीहड वन और दुगम घाटियो के मध्य अवस्थित यह दुग बीते जमाने म भारत के गिरि दुर्गों मे सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। रणथम्भौर दुग के स्थापत्य की विलक्षण बात यह है कि एक उत्तुग और विशाल पवत शिखर पर स्थित होकर भी यह किला दूर से दिखाई नही पडता जबकि इसके ऊपर से शत्रु सेना आसानी से देखी जा सकती है।[2]

(iv) **तारागढ दुग**—डा गुप्ता व डा ओझा के शब्दो म— अरावली पवत श्रेणियो का ही एक हिस्सा अजमेर म तारागढ या गढ बीठली के नाम से प्रसिद्ध है। बताया जाता है कि अजयपाल ने इस किले का निमाण कराया। अत इसे अजयमेरू कहा जाता था। महाराणा रायमल के पुत्र पृथ्वीराज ने इस पर कुछ महल आदि बनवा कर अपनी पत्नी ताराबाई के नाम पर तारागढ नामकरण कर दिया। प्राचीर की दीवारें काफी बडे एव भारी पत्थरो से बनी हुई हैं तथा आधार पर 20 फुट मोटी हैं। किले की दीवार म 14 बुर्ज हैं। किले पर हजरत मीरानसाहब की दरगाह बरामदा आँगन मस्जिद बुलन्द दरवाजा गज ए शहीदा आदि 16वी शताब्दी की स्थापत्य कला के उत्कृष्ट उदाहरण है। बरसाती पानी को प्राय कुण्डों म एकत्र कर दिया जाता था जिन्हे झालरा कहते थे जैसे—गोल झालरा, बडा झालरा आदि।[3]

(v) **सिवाणा व जालोर दुग**—डा नीरज व डॉ शमा ने इस दुग की स्थापत्य कला का वणन करते हुए कहा है कि— गिरि दुर्गों म सिवाणा के किले

1 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास p 546-47
2 डॉ नीरज व डॉ शर्मा राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा, p 49
3 डॉ गुप्ता व डॉ ओझा पूर्वोद्धृत p 130

का अपना महत्त्व है। इस किले के साथ चौहान वीर सातल साम और राठौड़ वीर कल्लाराय मलोत की शौर्य गाथाएँ जुडी हैं। इस आशय का एक दोहा है—

'किला अणखलो यू कहे आय कला राठौड़।
मो सिर उतरे मेहणा, तो सिर बाँधे मोड़ ॥

पश्चिमी राजस्थान में गिरि दुर्गों में जालोर का दुर्ग प्रमुख है जो सुदृढ़ बुर्जों और विशाल परकोटे से युक्त है। शत्रु के अनेक आक्रमणों को विफल करने वाले इस किले के साथ वीर कान्हड़दे सोनगरा के उद्भट पराक्रम का आख्यान जुड़ा हुआ है जिसने अलाउद्दीन खिलजी की सेना से लड़ते हुए वीरगति पाई।[1]

उपरोक्त दुर्गों के अतिरिक्त राजस्थान के मध्यकालीन इतिहास में प्रमुख भूमिका निभाने वाले तत्कालीन दुर्ग स्थापत्य का प्रतिनिधित्व करने वाले दुर्गों में आमेर गागरोन, शेरगढ़ बूंदी जैसलमेर आबू स्थित अचलगढ़ आदि प्रमुख हैं।

(3) राजप्रासाद (महल) (Palaces)

मुगलों के सम्पर्क में आने के बाद राजभवनों में सजावट पर जोर दिया जाने लगा। डा. कालूराम शर्मा ने राजप्रासाद की योजना पर प्रकाश डालते हुए लिखा है राजमहलों का मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया जाता था, जिन्हें जनानी ड्योढ़ी और मर्दानी ड्योढ़ी के नाम से पुकारा जाता था। दोनों भागों को एक सुगम मार्ग से जोड़ दिया जाता था। मर्दानी ड्योढ़ी में दरबार लगाने आम जनता एव दरबारियों से मिलने मन्दिर कार्यालय राजकुमारों के प्रकोष्ठ आदि की व्यवस्था रहती थी। जनानी ड्योढ़ी में महिलाओं तथा रसोई आदि का प्रबन्ध रहती थी। परन्तु राजप्रासाद के इन सभी भागों को जोड़कर एक पूर्ण इकाई का रूप प्रदान किया जाता था। मुगलों के सम्पर्क में आने के बाद बने राजप्रासादों में भव्यता पर अधिक जोर दिया जाने लगा। फव्वारे उद्यान पतले खम्भे बेल बूटे सगमरमर का प्रयोग बारीक खुदाई अलकृत छज्जे गवाक्ष आदि राजप्रासादों की विशेषताएं बन गये। मुगल शैली से प्रभावित राजभवनों में उदयपुर में अमरसिंह के महल जगनिवास जगमन्दिर आमेर व जयपुर के दीवानखास दीवान आम जोधपुर के फूल महल बीकानेर के रगमहल कर्णमहल शीशमहल अनूपमहल डीग के गोपाल भवन आदि मुख्य हैं। मुगल प्रभाव 17वीं सदी के बाद बनने वाले महलों में अधिक दिखाई देता है। किन्तु यह प्रभाव राजाओं एव सामन्तों के भवनों तक सीमित था। आम जनता के भवन इस प्रभाव से अछूते थे।

राजप्रासादों के सन्दर्भ में आमेर के राजभवनों का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। मानसिंह के समय में आमेर के महलों का निर्माण कार्य प्रारम्भ हुआ था, जो मिर्जा राजा जयसिंह प्रथम के शासनकाल में सम्पूर्ण हुआ। इन महलों की भवन निर्माण शैली ग्वालियर के राजभवनों के समान है जो हिन्दू शैली पर आधारित है। लेकिन इस पर मुगल शैली का प्रभाव भी स्पष्ट दिखाई

1 पूर्वोक्त पृ 49 50

दरा है। शीवार ग्राम और उसके गुम्बद मुगल ढग के हैं। इन राजभवनो के विषय म एक लेखक ने लिखा है 'दीवाने ग्राम के साथ मानसिंह ने पहाडी की चोटी पर एक महल का निर्माण करवाया था जिसका प्रतिबिम्ब धरातल स्थित झील म दिखाई देता है। इसकी छत लदाग्रा शैली की है, जो राजपूताने मे प्रचलित शैली है। महल म प्रकोष्ठ बने हुए है जिनम ग्रजमेर दिल्ली रोड की झाँकी देखी जा सकती है। राजा मानसिंह का निजी महल दोहरे तिबारे का बना हुआ है। यह सरल शैली का महल है। ग्रामर के अतिरिक्त वृदावन, बनारस ग्रादि स्थानो पर भी राजा मानसिंह ने मन्दिरो और महलो का निर्माण करवाया था। कहने का तात्पर्य यह है कि राजा मानसिंह के शासन काल मे स्थापत्य का बहुमुखी विकास हुआ व ग्रामर के महल स्थापत्यकला के राजाप्रासादो के उदाहरणो म अपना निजी विशिष्ट महत्त्व रखते है।"

(4) नगर नियोजन (Town Plann ng)

राजस्थान म नगर निर्माण का स्थापत्य प्राचीन ग्रन्थो पर ग्राधारित था जिनम महाभारत कामसूत्र शुक्रनीति ग्रपराजितप्रेच्छ ग्रादि उल्लेखनीय है। इन ग्रन्थो क ग्राधार पर नगर म मन्दिर महल भवन धन्धे के ग्राधार पर बस्तियाँ बसाना नगर की सुरक्षार्थ खाइयाँ परकोटा बनाना जलाशय एव वापिकाएँ बनाना सडको की व्यवस्था ग्रादि की जाती थी। इस दृष्टि से देलवाडा इगोद कस्बे उल्लेखनीय हैं। पहाडियो के अचल म जगल की सामीप्यता की दृष्टि से सुरक्षार्थ बसाए गए नगरो म ग्रामर वृदा, ग्रजमेर एव उदयपुर के नाम प्रमुख रूप से गिनाए जा सकते हैं।[1]

कछवाहो की राजधानी ग्रामेर को विशेष दृष्टिकोण स बसाया गया था। 'घाटी ग्रार की पहाडियो की ढाल म नालियाँ तथा ऊँचे ऊँचे भवन बनवाए गए थ और नीचे के समतल भाग मे पानी के कुण्ड मन्दिर सडकें बाजार ग्रादि थ। पहाडी नालो को सकरा रखा गया था जिसका उपयोग सुरक्षा स सम्बन्धित था। ऊँची पहाडी पर राजभवनों का निर्माण कराया गया था।[2] कछवाहा का 1562 ई म मुगलो म मैत्री सम्बन्ध स्थापित हो गया जिसस जयपुर राज्य पर मुगल आक्रमण का भय समाप्त हो गया। ग्रब ग्रन्य शासक भी जयपुर राज्य पर ग्राक्रमण करने का साहस नही कर सकते थ। ऐसी स्थिति म जयपुर नगर को खुले मैदानी भाग म बसाया गया। जयपुर नगर मे हिन्दू स्थापत्यकला एव मुगल स्थापत्यकला का श्रेष्ठ समन्वय हुआ। जयपुर को मैदानी भाग म बसाकर भी सुरक्षा की उपेक्षा नही की गई थी। निकट की पहाडी पर नाहरगढ दुग का निर्माण किया गया जो एक सजग प्रहरी की भाँति जयपुर पर दृष्टि रखता था। वी एल पानगडिया ने जयपुर नगर क विषय म लिखा है— नगर निर्माण शैली की दृष्टि स राजस्थान की राजधानी जयपुर ग्राज भी सारे देश म बेजोड है। जयपुर की नींव सन् 1727

1 डा गुप्ता एव डा ओझा राजस्थान का राजनीतिक एव सांस्कृतिक इतिहास प 46
2 डा गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास p 538-39

ई मे महाराजा सवाई जयसिंह न रखी थी। इसका निमाण सुप्रसिद्ध नियाजक और वास्तुविद विद्याधर चक्रवर्ती की देखरेख मे हुआ था। योजना के अनुसार बसाया गया उस समय भारत का यह एकमात्र नगर था। नगर को स्वरूप निमाण की मापकीय प्रणाली और वास्तुकला के अभ्युत्थान नियत्रण के आधार पर बनाया गया है। नगर के सब माग एकदम सीध और एक दूसरे को काटते हुए समकोण बनाते हैं। नगर की मुख्य सडक पूव स पश्चिम की ओर जाती है। उस तीन सडकें विभाजित करती हैं। विभाजन का स्थान चौपड कहलाता है। नगर नौ चौकडिया म विभक्त है। नगर निमाण म सामरिक सुरक्षा जल उपलधि बरसाती पानी का निकास और भावी विकास की सम्भावनाओ का पूरा ध्यान रखा गया है।[1] नगर म हवामहल रामनिवास बाग ज तर म तर एव म्यूजियम नगर की शोभा म चार चाँद लगाते हैं।

इसी प्रकार जसलमेर जोधपुर, बूदी, अजमेर उदयपुर आदि नगरो के निर्माण की योजना भी एतिहासिक ग्रथो स विदित होती है। नगर योजना एक निश्चित नगर स्थापत्य शास्त्र के आधार पर निर्मित थी।

(5) स्तम्भ (Pillars) एव स्मारक (Memorials)

कीर्ति स्तम्भ—अशोक के स्तम्भ तथा दिल्ली की कुतुबमीनार जिस प्रकार भारत की स्तम्भ स्थापत्य कला के प्रतीक हैं वसे ही राजस्थान के चित्तौड दुग म राणा कुम्भा द्वारा कीर्ति स्तम्भ भी अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। राणा कुम्भा ने मालवा के सुलतान मोहम्मद को पराजित कर अपनी विजय की स्मृति म इसे 1497 से 1517 वि स के मध्य बनवाया था। इस स्तम्भ का आधार 12 फीट ऊचा और 42 फीट लम्बा व चौडा चबूतरा है। पृथ्वी से यह स्तम्भ 122 फीट ऊचा है। इसकी चौडाई 30 फीट व इसम 9 मजिले हैं। इसम अदर से ऊपर तक सीढियाँ बनी है तथा प्रत्यक मजिल पर चारो दिशाओ मे झरोके बने हुए हैं। इसमे पाँच शिलालख भी उत्कीर्ण हैं। सम्पूण स्तम्भ म देवी देवताओ की मूर्तियाँ स्थापित हैं। गौरीशकर हीरानद ओझा ने इसीलिय कहा है कि 'कीर्ति स्तम्भ को हिन्दू देवी देवताओ स सजाया हुआ एक व्यवस्थित सग्रहालय या पौराणिक देवताओ का अमूल्य कोष कहें तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी।[2]

डा गोपीनाथ शर्मा के शब्दो म यदि हम मूर्तिकला तथा स्थापत्य कला का सामजस्य कही देखना चाहे तो कीर्ति स्तम्भ म बडे सन्तुलन के साथ मिलता है। इसमे हम कलाकृतियो को मूतरूप देने का सफल प्रयास दिखाई देता है।[3] फर्गुसन ने कहा है कि रोम के ट्राजन स्तम्भ की अपेक्षा इसका कलात्मक स्थापत्य और रुचि की अभिव्यक्ति म अधिक अच्छा पाया जाता है।[4] टाड के शब्दों म इसका तुलना

1 बी एल पानगडिया राजस्थान का इतिहास p 347–48
2 डा गौरीशकर हीरानद ओझा उदयपुर राज्य का इतिहास भाग–1 p 51
3 पूर्वोक्त पृ 595
4 *Fergusson* History of India and Eastern Architecture p 253

केवल दिल्ली की कुतुबमीनार से की जा सकती है किंतु वह इससे ऊची होते हुए भी निकृष्ट कोटि की है।'[1]

स्मारक—राजस्थान म स्मारको के रूप म बनाए गए भवन समाधियाँ छतरियाँ सती स्मारक देवल मकबरे दरगाह आदि हैं।

राजस्थान शूरवीरो की भूमि है। अपनी ज म भूमि के लिए लडने वालो की पावन स्मृति को समाधियो अथवा छतरियो के माध्यम से जीवित रखा गया है। सती महिलाओ को सती स्मारको द्वारा अमर बना दिया गया है। मध्यकाल म वीर स्तम्भो का निर्माण हुआ जिनम योद्धा के विषय म उसकी युद्ध सम्बधी सामग्री के विषय म तथा उसके पीछे सती होने वाली स्त्रियो का विवरण मिलता है। वीर या योद्धा स्तम्भ 13 स 17वी शताब्दी म अधिक मिलते हैं। कालातर मे छतरियाँ बनाने की प्रथा शुरू हुई। ये छतरियाँ चतुष्कोण पटकोण अष्टकोण अथवा षोडशकोण की होती थी। छतरियो म आहड मण्डोर गेटोर देवकुण्ड की छतरियाँ उल्लेखनीय हैं। आहड उदयपुर म तीन मील दूर है जहाँ मेवाड के महाराणाओ की छतरियाँ हैं। मण्डोर जोधपुर स 6 किमी दूर है जहाँ जोधपुर के राठौड नरेशो की छतरियाँ है। गेटोर जयपुर के समीप है जहाँ कछवाहा राजाओ की छतरियाँ है। देवकुण्ड बीकानेर से 8 किमी दूर है यहाँ बीकानेर के राजाओ की छतरियाँ हैं। अलवर म राजा बख्तावर की छतरी तथा बडोली गाँव के निकट महाराणा प्रताप की छतरी है।

मारवाड के स्मारक भवनो के विषय म डा मागीलाल व्यास मयक ने लिखा है "मारवाड म स्मारक भवनो का निर्माण करने की प्रथा अत्यत प्राचीन काल से रही है। प्राय प्रत्येक ग्राम म हम इस प्रकार के स्मृति भवन उपलब्ध हो जाते है। स्थानीय भाषा म इन्हे देवली व छतरी कहा जाता है। छतरियो म सम्बधित व्यक्ति की शिलाकित प्रतिमा भी प्राय रहा करती थी। इस प्रकार की प्रतिमा को पुतला कहा जाता था। पुतली के नीचे अभिलेख भी रहा करते थे। स्थानीय शासको से सम्बधित छतरियाँ भी प्राप्त होती है।[2]

मकबरे और दरगाहो म मुस्लिम स्थापत्य कला का प्रयोग किया गया है। इनम अजमेर स्थित सूफी सत शेख मुईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह विशेष उल्लेखनीय है।

(6) भवन हवेलिया (Buildings)

राजमहलो के अतिरिक्त राजस्थान म अनेक धनाढ्य सेठो और राज्य के उच्चाधिकारियो व सामन्तो के निजी भवन या हवेलियाँ भी स्थापत्य की दृष्टि से अनुपम हैं। डा जयसिंह नीरज ने इन हवेलियो के स्थापत्य की विशेषताओ व उदाहरणो को इस प्रकार स्पष्ट किया है— 'हवेलियो के निर्माण की स्थापत्य कला भारतीय वास्तुकला के अनुसार रही है। हवेली की लम्बाई चौडाई और कमरो के

1 *Tod* Annals, Vol II p 761
2 डॉ मांगीलाल व्यास मयक जोधपुर राज्य का इतिहास

निर्माण की एक परम्परा रही है जिस राजस्थान के गाँवो म वास्तुकार आज भी अपनाते हैं। प्रमुख द्वार के अगल बगल कलात्मक गवाक्ष द्वार के बाद लम्बी पोल फिर बडा चौक और चौक के अगल बगल कमरे सामने चौबारा और चौबारे के अगल बगल और पृष्ठ म कमरे। यदि हवली बडी हुई तो वह दो चौक, तीन चौक की तथा कई मजिल की हो सकती है। राजस्थान के नगरो म सामत और सेठ लोगो ने भव्य हवेलियाँ बनवाइ। जयपुर की हवेली परम्परा इतनी प्रसिद्ध हुई कि बाद म समृद्धि के साथ ही शेखावाटी के श्रेष्ठो न अपने अपने गाँव म विशाल हवेलियाँ बनवाने की परम्परा ही डाल दी। रामगढ नवलगढ फतहपुर मुकुदगढ मण्डावा पिलानी सरदार शहर रतनगढ आदि कस्बा मे विशाल हवेलियाँ हवली शली स्थापत्य का उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

जसलमेर का सालमसिह का हवेली नथमल की हवली तथा पटवा की हवली ता पत्थर की जाली एव कटाई के कारण आज ससार प्रसिद्ध हो गई है। इसी प्रकार बशी पत्थर की बनी करौली भरतपुर कोटा की हवेलियाँ भी अपनी कलात्मक सगतराशी के कारण बेजोड गिनी जाती हैं। बाद म वष्णव मदिर भी हवेली शली के आधार पर ही बनाए गए इसलिए विशाल हवेलियाँ मदिरो के रूप म आज जगह जगह देखी जा सकती हैं। हवेलियो के कारण आज हवली शली का स्थापत्य हवली सगीत हवेली चित्रकला सास्कृतिक क्षेत्र मे प्रसिद्ध हो गए है।[1]

(7) जलाशय एव उद्यान (Lakes and Gardens)

राजस्थान के मध्यकालीन इतिहास म यहाँ के शासको द्वारा निर्मित अनेक सुदर जलाशयो व उद्यानो से भी तत्सम्बधी स्थापत्य कला का परिचय मिलता है।

राजपूत नरशो न जलाशय निर्माण म अत्यधिक रुचि प्रदर्शित की क्योकि जलाशय निर्माण को पुण्य का काय समझा जाता था। राजाओ के अतिरिक्त रानियो सामतो व्यापारियो साहूकारो एव अन्य धनिक वर्गों न भी जलाशय निर्माण की ओर ध्यान दिया। राजस्थान म छोटे और बडे दोनो प्रकार के जलाशयो का निर्माण प्रचुर मात्रा म हुआ। मुख्य रूप से छोटे जलाशय पीने के पानी एव बड जलाशय पीने के पानी व सिचाइ का ध्यान मे रखकर बनवाए गए। छोटे जलाशयो मे जसलमेर के कौशिक राम का कुण्ड, जैसागर ब्रह्मसागर बूदी के फूलसागर जैतसागर तथा सूरसागर जोधपुर के रानीसर अभयसागर बालसमद तथा गुलाब सागर बीकानेर के सीशोलाव तथा सोलाब सागर मुख्य हैं। डा गोपीनाथ शर्मा के अनुसार इन छोटे जलाशयो के स्थापत्य म विशेष रूप म देखा गया है कि इनके ऊपरी भाग मे छतरियाँ बनी रहती है और सीढियाँ चारो ओर से या एक ओर से बनी रहती हैं जो सभी भागो से या एक भाग से नीचे तक पहुच जाती है। इनका उपयोग नहाने पानी भरने तथा कही कही सिचाई के काम मे लिया गया है। ऐसे जलाशयो

1 डॉ जयसिह नीरज व डा भगवती लाल शर्मा राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा पृ 44

को मुगल ढग से भी बनाया जाता था जिनमे बारादरियाँ इनके साथ बनवा दी जाती थी जो ग्रीष्मकाल मे सुख शयन के काम मे ली जाती थी।[1]

विशाल आकार के जलाशयो मे (जो अध्ययन काल मे निर्मित हुए) 'राजसमद' झील विशेष उल्लेखनीय है। डॉ गुप्ता व डॉ ओझा के अनुसार "महाराणा राजसिंह ने बडी गाँव के पास जनासागर तथा कॉकरोली के पास राजसमद' ताल बनाए। राजसमद बाँध की आकृति धनुषाकार है और राजनगर गाँव की ओर बालताल का द्वार, जो दो पहाडियो के बीच स्थित है 200 गज लबा और 70 गज चौडा है। इसमे राजनगर के सगमरमर से निर्मित सुन्दर सीढ़ियाँ बनी हुई हैं और बाँध पर तीन सुन्दर तक्षण कला से युक्त मडप बने हैं जिनके स्तम्भो और छतो मे देवी देवताओ नृत्यरता अप्सराओ और कलरव करते पशु पक्षियो की कलाकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। यह स्थल नौ चौकी के नाम से जाना जाता है। इन मडपो के छज्जे छवन पान पुष्प आदि हिन्दू शैली लिए हुए हैं तो बेल बूटे व जालियो की खुदाई मुगल प्रभाव मे ओत प्रोत है। पास ही तुलादान के पाँच तोरण द्वार व निकट पहाडी पर महल बना हुआ है।'[2] इसी झील के किनारे रणछोड भट्ट कवि द्वारा रचित राज प्रशस्ति महाकाव्य 25 शिलाओ पर उत्कीर्ण ताको पर रखा हुआ है।

अध्ययन काल मे निर्मित अन्य जलाशयो मे डूगरपुर की गब सागर, बूँदी का फूलसागर जैसलमेर मे ब्रह्मसर जोधपुर मे रानीसर अभयसागर व गुलाबसर बीकानेर का सूरसागर, अनूपसागर व नवलखताल स्थापत्य की दृष्टि मे महत्त्वपूर्ण हैं।

उद्यान—नगर की सुन्दरता मे अभिवृद्धि के उद्देश्य से राणा माकल राणा कुम्भा मानसिंह राजा जसवन्तसिंह, मिर्जा राजा जयसिंह आदि ने बडे बडे उद्यान लगाए। इनमे नालियाँ फुव्वारे बारहदरियाँ स्थापित की जाती थी। इन उद्यानो मे मुगल शैली का बहुत अधिक प्रभाव है। इनके चारो ओर दीवार बनाई जाती थी। जयपुर का 'रामनिवास बाग' उद्यान स्थापत्य का उत्कृष्ट उदाहरण है।

चित्रकला
(Painting)

डा जयसिंह नीरज ने राजस्थानी चित्रकला के विषय मे कहा है कि "राजस्थानी चित्रकला का उद्भव और उत्कर्ष राजस्थान के ही प्रान्त मे हुआ तथा अन्य भारतीय शैलियों से प्रभावित होती हुई स्वतन्त्र रूप से राजस्थान के वीर प्रदेश मे पोषित हुई। राजस्थानी चित्रकला के विकास और सवर्धन मे राजस्थान का प्राचीन इतिहास और भौगोलिक सरचना का प्रमुख हाथ रहा है। वीर राजपूतो की वीर भूमि के कण कण मे उनके शौर्य की गाथाए सभ्यता और सस्कृति के पद चिह्न काव्य चित्रकला स्थापत्य आदि के रूप मे यत्र तत्र बिखर पडे हैं। वास्तविकता

1 पूर्वोद्धृत
2 डॉ गुप्ता व डॉ ओझा राजस्थान का इतिहास—एक सर्वेक्षण पृ 135

तो यह है कि अपने प्राकृतिक निमाण और मोहक वातावरण था लोक जीवन के कारण काव्य एव कला की उद्भावना के लिए राजस्थानी धरती अत्यधिक उपयुक्त रही है। [1]

राजस्थान के इतिहास के अध्ययन काल म हम राजस्थानी चित्रकला के परम्परागत रूप के साथ मुगलो के प्रभाव के फलस्वरूप विकसित एक नवीन शली स अवगत होते हैं। मुगल सम्राट् अकबर ने अपने दरबार म श्रेष्ठ चित्रकारो को प्रश्रय दिया। राजपूताने के चित्रकार भी इसके कारण ईरानी चित्रकारो के सम्पर्क म आए। राजपूत मुगल शली के समन्वय का यह प्रभाव हुआ कि गुजरात एव लोदी शली का प्रभाव घटता गया और मुगल प्रभाव बढता गया। परवर्ती काल म राजस्थानी शली मुगल प्रभाव स बहुत परिमार्जित होती गई और मुगल कला भी इस शली के सम्बन्ध स परिमार्जित होकर मुगल या भारतीय बनी। इस प्रकार राजस्थान के अनेक नगरो म कुछ अपनी विशिष्ट मौलिकताओ के साथ अनेक राज थानी शलियाँ सोलहवी शताब्दी तक विकसित होती गइ। 1707 ई म औरगजेब की मत्यु के बाद मुगल साम्राज्य का पतन होने लगा। परिणामस्वरूप कलाकारो और चित्रकारो को दिल्ली दरबार का सरक्षण मिलना ब द हो गया जिसके कारण व राजगार की तलाश म राजपूत राजाओ के दरबार म आ पहुचे। कला प्रेमी राजपूत नरशो ने उन्ह आश्रय दिया। यह समय भारतीय राजनीति एव समाज म सक्रमण का काल था। चारो ओर विलासिता एव ऐश्वय का साम्राज्य था। इस स्थिति का प्रभाव कला पर पडना भी स्वाभाविक था। चित्रकारो न परिवर्तित परिस्थितियो म जो चित्र बनाए उनम विलासिता कामुकता एव एश्वय का प्रभाव स्पष्ट रूप स देखा जा सकता है।

डा कालूराम शर्मा के शब्दो म अब शासको के एश्वय तथा विलासी जीवन के दृश्यो पर जोर दिया जाने लगा जसे कि शासक को अपने दरबारियो के साथ चित्रित करना शासक के शिकार के दृश्य दरबार म सगीत और नत्य के आयोजन के दृश्य और शृगारी विषयो की प्रधानता। इस बात म कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकार के चित्रो की प्रेरणा मुगल चित्रकला स ली गई थी। 18वी सदी के अ त तक राजस्थानी चित्रकला म मुगल शली पूरी तरह स विलीन हो चुकी थी। अत इस काल के बने चित्रो मे मुगल शली को ढूढना प्राय असम्भव हो गया जिससे इस काल के चित्रो मे राजस्थानी शली का विशुद्ध रूप दिखाई देन लगा। तत्कालीन युग के राग रग और एश्वय विलास प्रधान प्रवृत्ति का प्रतिबिम्ब तक चित्रो मे स्पष्ट दिखाई देता है। कृष्ण लीला तथा राधाकृष्ण सम्ब धी धार्मिक चित्रो म भी मानवीय कामुकता का ही चित्रण होता था। इन चित्रो म पूरी पूरी राजकीय तडक भडक एव अत्यधिक अलकरण पाया जाता है। चित्रकला की यह प्रवृत्ति केवल राजस्थानी शासको तक ही सीमित नहीं रही बल्कि इसका विस्तार इस सीमा तक हो गया था

1 डा जयसिंह नीरज व डा भगवतीलाल शर्मा पूर्वोद्धृत पृ 86

कि प्रत्येक महत्त्वपूर्ण सामत अपनी जागीर की हवेली म चित्रकारा को आश्रय देने लगा। ऐसे सामतो म धाणेराव देवगढ उणियारा, शाहपुरा, बदनोर सलूम्बर कोठारिया आदि प्रमुख थे। इनम से कुछ जागीरदारो की चित्रकला पर अभी शोध काय चल रहा है।'[1]

राजस्थानी चित्रकला की विभिन्न शैलियाँ व उनकी विशेषताएँ
(Schools of Rajas'hani Painting and their Characteristic Features)

राजस्थानी चित्रकला की विभिन्न शलिया के उद्भव और विकास म स्थानीय प्रभाव एव चित्रकार विशेष क समर्थित सयाग का विशेष योगदान रहा है। डा जयसिंह नीरज ने इन शलियो के विकसित होने क सम्ब ध म अपना मत प्रकट करत हुए कहा है कि राजस्थानी चित्रकला का विकास एव निमाण दूसरी अधिकांश शलियो की भाँति न ता एक स्थान मे हुआ और न ही कुछ कलाकारो द्वारा। राजस्थान के जितने भी प्राचीन नगर राजधानियाँ तथा धार्मिक एव सास्कृतिक प्रतिष्ठान हैं वहाँ चित्रकला पनपी और प्रतिष्ठित हुई। धमपीठा लाक कलात्मक मिथको रियासता के कला प्रेमी राजाओ सामतो ठिकानो के जागीरदारो नगर क श्रेष्ठियो, कलाकारो आदि के सयोजन से जो कला उभर कर आई वह राजस्थानी चित्रकला के नाम से जानी गई। धार्मिक प्रतिष्ठानो के अतिरिक्त कवियो चितारो, मुसव्विरा मूर्तिकारा शिल्पाधार्यो आदि का जमघट दरबारो मे होने के कारण राजस्थानी चित्रकला की अजस्र धारा अनेक रियासती शलिया उपशलियो का परिप्लावित करती हुई 17वी 18वी शती म अपने चरमोत्कप पर पहुची। अधिकांश रियासतों के चित्रकारो ने जिन जिन तौर तरीको से चित्र बनाए स्थानानुसार अपनी परिवेशगत मौलिकता राजनतिक सम्पक सामाजिक सम्ब धो क कारण वहा की चित्र शली कहलाइ। इसके वर्गीकरण के बारे मे विद्वाना के विभिन्न मत हैं कि तु अध्ययन की सुविधा के लिए भौगोलिक सांस्कृतिक आधार पर राजस्थानी चित्रकला का हम चार प्रमुख स्कूलो मे बाँट सकते हैं—

1 मेवाड स्कूल (चावड उदयपुर, नाथद्वारा देवगढ आदि शलियो और उपशलिया स सम्बधित)
2 मारवाड स्कूल (जोधपुर बीकानेर जसलमेर, किशनगढ पाली नागौर, धाणेराव आदि शलियो और उपशलियों से सम्बन्धित)
3 ढूढाड स्कूल (आम्बेर जयपुर शेखावाटी अलवर, उणियारा, करौली, भिलाय शलिया और उपशलिया स सम्बधित)
4 हाडौती स्कूल (बूदी कोटा, झालावाड शली और उपशलियो स सम्बधित)

इस वृहद् प्रदेश की सीमाए उत्तर प्रदेश मध्यप्रदेश, गुजरात पाकिस्तान पजाब और हरियाणा से लगती हैं अत मध्यकाल म राजस्थान की छोटी बडी

1 डा दशरथ शर्मा राजस्थान के इतिहास का सर्वेक्षण पृ 298

रियासतो की तथा पडोसी प्रदेशो की सस्कृति का पारस्परिक प्रभाव और आदान प्रदान स्वाभाविक था। राजस्थानी चित्रकला भी इस प्रभाव से अछूती नही रही।[1]

राजस्थानी चित्रकला की उपरोक्त शलियो की विशेषताएँ व उनका विकास सक्षेप म इस प्रकार हैं—

(1) मेवाड शली (Mewar School)

डा गोपीनाथ शर्मा के अनुसार राजस्थानी चित्रकला का प्रारम्भिक और मौलिक रूप जो सामजस्य के फलस्वरूप बनने पाया था मेवाड शली म पाते हैं वल्लभीपुर से गुहिलवशीय राजाओ के साथ य कलाकार वहाँ स सर्वप्रथम मेवाड म आए और उन्होने अजन्ता परम्परा को प्रधानता देना शुरू किया। स्थानीय विशेषताओ स मिलकर यह परम्परा अपना स्वतन्त्र रूप बना सकी जिसे हम मेवाड शली कहते हैं। 1260 ई का श्रावक प्रतिक्रमणचूर्णी नामक चित्रित ग्रन्थ इस शली का प्रथम उदाहरण है। मेवाड शली का समृद्ध रूप हम चित्तौड के प्राचीन महलो के रगो तथा फूल की पखुडियो की रेखाओ म दिखाई देता है। जब मुगलो के साथ मेवाड ने राणा अमरसिंह के समय 1615 ई म सधि की तब स उत्तरोत्तर मेवाड शली मे मुगली विशेषताओ का समावेश होने लगा जो 1625–52 ई तक परिपक्व हो गया।[2] मेवाड शली के विषयो म भागवत पुराण रामायण दरबारी जीवन तथा राग रागनियो का चित्रण नायिका भेद एव सूरसागर मुख्य हैं।

अविनाश बहादुर वर्मा के अनुसार मेवाड शली की निम्नांकित विशेषताए हैं–[3]

- (i) **चित्रो का रग**—चटक लाल केसरिया पीला व नीला रग का प्रयोग।
- (ii) **सयोजन**—चित्रो की पृष्ठभूमि म घटनाओ का उनके महत्त्वानुसार सयोजन।
- (iii) **आकृतियाँ**—चेहरे गोल अटाकार लम्बी नाकें चिबुक व गदन के बीच का भाग अधिक भारी व पुष्ट। स्त्रियो का आकार छोटा किन्तु अग भगिमाए सुन्दर।
- (iv) **प्रकृति**—का अलकारिक रूप चित्रित है किन्तु पर्वतो व चट्टानो पर मुगल प्रभाव।
- (v) **परिप्रेक्ष्य**—चित्र की मुख्य घटना को मध्य म ध्यानाकर्षण हेतु चित्रित किया है।
- (vi) **पशु पक्षी**—अलकारिक चित्रण किन्तु मुगल प्रभाव स यथार्थ चित्रण भी है।

1 डॉ जयसिंह नीरज व डॉ भगवतीलाल शर्मा पर्वोदन p 86–87
2 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास पृ 165–66
3 अविनाश बहादुर वर्मा भारतीय चित्रकला का इतिहास p 187

(vii) गोलाई—मुगल प्रभाव स्वरूप छाया के प्रयोग द्वारा गोलाई का चित्रण।

(viii) वेश भूषा—पुरुषो का घेरदार पजामा व कमर म पटका तथा पगडियाँ सुन्दर। स्त्रियो के वस्त्र फूलदार कपडे के व चोलिया तथा लहँगो सहित चित्रण।

(ix) भवन—प्रकृतिकालीन भवनो का चित्रण योजना को ठोस बनाने हेतु।

(x) हाशिये—चित्रो के हाशिये प्राय लाल या पीली सादी पट्टियो के हैं।

(2) मारवाड शैली (Marwar School)

डा जयसिह नीरज के शब्दो मे 'जोधपुर शैली से ही मारवाड स्कूल का आरम्भ माना जा सकता है। चौखेला महल के भित्तिचित्र भी तत्कालीन चित्रण के प्रतीक हैं। राजा सूरसिह (1595–1628) के समय के अनेक लघुचित्र पिक्चर आर्ट गैलरी बडोदा तथा कुमार सग्रामसिह के निजी सग्रह म हैं ढोलामारू तथा 1610 मे चित्रित भागवत जोधपुर शैली की प्रमुख देन है। सन् 1623 की वीर विट्ठलदास चाचावत के लिए चित्रित की गई पाली की रामायण चित्रावली का ऐतिहासिक महत्त्व है। 17वी शती के मध्य मे अकित जोधपुर शैली के सूरसागर के पदों पर आधारित चित्र एव रसिक प्रिया मे रगो की चटकता और वस्त्राभूषण का अभिजात्य विशेष उल्लेखनीय है। जोधपुर शैली का दूसरा मोड महाराजा जसवत सिह के समय मे आया। कृष्ण चरित्र की विविधता और मुगल शैली का प्रभाव इस समय के चित्रो म द्रष्टव्य है।

मारवाड स्कूल की दूसरी प्रमुख शैली बीकानेर शैली है जिसका 16वी शती के अन्त में प्रादुर्भाव माना जाता है। मथेरणा व उस्ता परिवार ने आज तक बीकानेर का चित्रकला को परिप्लावित किया। मारवाड स्कूल म किशनगढ शैली ससार प्रसिद्ध होने के कारण अलग स्कूल के रूप म भी चर्चित है। राजा रूपसिह राजा मानसिह राजा राजसिह के समय म (1643–1748) काव्य और चित्रकला का यहाँ क्रमिक विकास हुआ पर राजा सावतसिह (भक्तवर नागरीदास जन्म 1699) के समय म किशनगढ की चित्रकला म एक नया मोड आया। नागरीदासजी के काव्य प्रेम गायण वणीठणी के सगीत प्रेम और कलाकार मोरध्वज निहालचन्द के चित्राकन ने इस समय किशनगढ की चित्रकला को सर्वोच्च स्थान पर पहुचा दिया।'[1]

अविनाश बहादुर वर्मा के शब्दो म किशनगढ के चित्रो म स्त्री आकृतियो का विकास बनीठनी के रूप म हुआ और दूसरा आर ब्रज भाषा साहित्य म प्रचलित उपमाओ के आधार पर राधा के सौन्दर्य का अकन हुआ। यह सारा परिवर्तन

1 डॉ जयसिह नीरज व डॉ भगवतीलाल शर्मा राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा p 89-93

नागरीदास और उसके चित्रकार निहालचन्द की कुशल बुद्धि का कार्य था। इस प्रकार किशनगढ़ के चित्रकारों ने सावन्तसिंह के राज्यकाल में परम्परागत लोक कला के मीन नेत्र गोलभारी चेहरे न बनाकर कमल और खंजन आकार के नेत्र चाप के समान पतली भृकुटी पतले सुकोमल अधर और लम्बी पतली नाक को चेहरे में बनाकर नारी के वीर भाव के स्थान पर माधुर्य तथा कोमलता चंचलता व नारीत्व भाव की प्रधानता को दर्शाया। स्त्रियाँ लता के समान लचकदार छरहरे शरीर वाली और लम्बी बनाई गई हैं। इस प्रकार किशनगढ़ की स्त्री आकृतियाँ राजस्थान की अन्य कला शैलियों से सर्वथा भिन्न है। यह निश्चित है कि इस शैली को सुन्दरी बनीठनी के जीवित रूप से अत्यधिक प्रेरणा नवीन रूप विधान और कोमलाङ्गी स्त्री आकृति की साकार कल्पना मिली।[1] उक्त कथन चित्रकला में नागरीदास के योगदान को भली भाँति प्रकट करता है।

(3) ढूंढाड़ स्कूल (Dundhar School)

प्राचीन समय में जयपुर और इसका निकटवर्ती क्षेत्र ढूंढाड़ कहलाता था। चित्रकला के विकास की दृष्टि से इस क्षेत्र में आमेर जयपुर अलवर शेखावाटी उणियारा करौली आदि शैलियों को भी सम्मिलित किया जाता है। डा जयसिंह नीरज के शब्दों में 'आमेर शैली के प्राचीन उदाहरण सन् 1600 से 1614 के आस पास आमेर की छतरियों के भित्ति चित्र इस शैली का प्रारूप दर्शनीय है जिस पर मुगल प्रभाव हावी है। आमेर शैली का दूसरा चरण मिर्जा राजा जयसिंह (1625–1667) के समय में रीतिकालीन परम्परा से अधिक प्रभावित है। बिहारी जैसे कवि उस समय दरबार की शोभा थे, जिन्होंने शब्द चित्र बनाकर चित्रकला को प्रभावित किया। महलों और हवेलियों के निर्माण के साथ भित्ति चित्रण जयपुर की विशेषता बन गई। सवाई माधोसिंह प्रथम के समय (1750–1767) गलता के मंदिरों शीशोदिया रानी के महल चन्द्र महल तथा पुण्डरीक की हवेली में कलात्मक भित्ति चित्रण हुआ। जयपुर शैली का प्रभाव ईसरदा मिवाड़ भिलाय उणियारा चौमू सामोद मालपुरा जैसे ठिकानों पर भी रहा जिससे वहां ठिकाना पेंटिंग विकसित होती रही। भित्ति चित्रण पोथी चित्रण आदमकद पोर्ट्रेट लघु चित्रण में जयपुर के कलाकारों ने मुगल प्रभाव को ग्रहण करते हुए राजपूती संस्कृति की नफासत और रंगों की लोक कलात्मकता का संतुलित उदाहरण प्रस्तुत किया है।[2]

(4) हाड़ौती या बूंदी स्कूल (Haroti or Bundi School)

डा गोपीनाथ शर्मा के अनुसार राजस्थान शैली के अन्तर्गत बूंदी शैली का भी बड़ा महत्त्व है। प्रारम्भिक काल में राजनीतिक अधीनता के कारण बूंदी कला पर मेवाड़ी शैली का बहुत प्रभाव रहा। इस स्थिति को व्यक्त करने वाले 1625 ई

1 डॉ जयसिंह नीरज व डॉ भगवतीलाल शर्मा राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा p 89–93

2 अविनाश बहादुर वर्मा भारतीय चित्रकला का इतिहास p 207–208

क लगभग के दो चित्र जिनम एक रागमाला और दूसरा भरवी रागिनी का है बडा उपादेय है। इन चित्रा म पटालाक्ष, नुकीली नाक मोटे शाल छोटा कद और लाल पीले रग की प्रचुरता स्थानीय विशेषताओ की द्योतक है।"[1] परम्परा के अनुसार कहा जाता है कि क्षत्रशाल (1631–1656 ई) न अपने दरबारी चित्रकार नियुक्त किए। उसके गद्दी स उतरते ही शाहजहा ने यह जागीर उसके भाई माधवसिह को सौप दी और उसम कोटा भी सम्मिलित कर लिया और इस प्रकार अट्ठारहवी शता दी म कोटा भी बूदी शली का के द्र बन गया। अटठारहवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध म बूदी शली का पूर्ण विकास हुआ और इस समय अधिक चित्रा का निमाण हुआ। इस शली म अलकरण की प्रवृत्ति अधिक दिखाई देती है। अट्ठारहवी शता दी के उत्तरार्द्ध मे चित्रो का स्तर गिर जाता है और कारीगरी की कुशलता और दक्षता कम हो जाती है। अट्ठारहवी शताब्दी के कुछ भद्दे चित्र भी प्राप्त होत हैं जो देखन म अपूर्ण हैं। शायद यह चित्र उन सरक्षको या चित्र प्रेमियो क लिए बनाए गए है जो अधिक उत्कृष्ट चित्रो का मूल्य नही दे सकत थे।

हाडौती या बूदी शली की विशेषताओ का उल्लेख करत हुए डा नीरज का कथन है कि बूदी शली की आकृतियाँ लम्बी शरीर पतल स्त्रिया के अधर अरुण, मुख गोलाकृत और चिबुक पीछे की ओर झुकी छोटी होती है। प्रकृति का सुरम्य सतरगा चित्रण तथा स्थापत्य का राजपूती वभव और श्वत गुलाबी लाल हिगलू हरा आदि रगो का प्रयोग बूदी कलम की विशेषता रही है। रागरागिनी नायिका भेद ऋतु वणन बारहमासा कृष्णलीला दरबार शिकार हाथियो की लडाई उत्सव अकन आदि शली के चित्राधार रह है।[2]

राजस्थान के इतिहास के अध्ययन काल म स्थापत्य एव कला के उपरोक्त क्षेत्रो म प्रगति हुई जिस पर मुगलो क सम्पक स भारतीय एव ईरानी कला का सामजस्य हुआ। यह सम वयवादी प्रभाव राजस्थान की आलोच्य अवधि के अ तगत कला के विभिन्न पक्षो पर पडा। मूर्ति कला के क्षेत्र म परम्परागत शली का अनुकरण होता रहा किन्तु धार्मिक सहिष्णुता की भावना अभिव्यक्त हुई। इस काल म वैष्णव शव देवी तथा जैन मदिरो म मूर्तियो का प्रचुर मात्रा म निमाण हुआ। सगीत कला पर भी मुगल प्रभाव स्पष्ट दिखता है। राजस्थान म इसके फलस्वरूप 'हवली सगीत की नई शली का विकास हुआ। नृत्य कला के क्षेत्र म भी भारतीय पारम्परिक शलियो के अतिरिक्त मुगल प्रभाव स कत्थक नृत्य का विकास हुआ। कत्थक का जयपुर घराना मुगल राजपूत नृत्य शलियो के सामजस्य का ही परिणाम है। इस प्रकार आलोच्य काल म राजस्थान म कला एव स्थापत्य का प्रचुर विकास हुआ।

---

1 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास।
2 पूर्वोक्त p 91